महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

ज्ञान शांति मैत्री

एम.ए. राजनीति विज्ञान

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.पी.एस. – 016

द्वितीय सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : - 10

पाठ्यचर्या का शीर्षक : भारतीय शासन एवं राजनीति

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

दूर शिक्षा निदेशालय महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

एम.ए.राजनीति विज्ञान प्रथम सेमेस्टर-पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (भाग-1)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि.,वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. अरविंद कुमार झा
पूर्व निदेशक,
दूर शिक्षा निदेशालय
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. पवन कुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
अटल बिहारी बाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. जे.वी. गवई
विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
राष्ट्रसंत तुकडोजी महाराज नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर, महाराष्ट्र

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. आर. आर. झा
पूर्व विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय
बी.एच.यू. वाराणसी

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष
गांधी एवं शांति अध्ययन, संस्कृति विद्यापीठ,
म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

डॉ. सुशील कुमार त्रिपाठी
पाठ्यक्रम संयोजक : एम.ए.राजनीति विज्ञान पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय,
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 – डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 2 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 3 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 4 - डॉ. सुशील सिंह चौहान

खंड - 2
इकाई 1- डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 2- डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 3- डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 4- डॉ. सुशील सिंह चौहान

खंड - 3
इकाई 1 – डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 2 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 3 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 4- डॉ. सुशील सिंह चौहान

खंड - 4
इकाई 1- डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 2 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 3 - डॉ. सुशील सिंह चौहान
इकाई 4 - डॉ. सुशील सिंह चौहान

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट
दू.शि. निदेशालय म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

सुश्री राधा ठाकरे
टंकक/फार्मेटिंग/एडिटिंग
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर
दू.शि.निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि.वर्धा

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

भारतीय शासन एवं राजनीति

क्रेडिट्स : 04 क्रेडिट

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2. सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

खण्ड 1 भारतीय संविधान के वैचारिक आधार

इकाई-1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना, उद्देशिका एवं विशेषताएँ तथा वैचारिक तत्व

इकाई-2. मौलिक अधिकार एवं मूल कर्तव्य

इकाई-3. नीति-निर्देशक सिद्धान्त

इकाई-4. सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के साधन के रूप में संविधान : संवैधानिक संशोधन एवं पुनर्विलोकन

खण्ड 2 सरकार की संरचना एवं संघीय व्यवस्था

इकाई-1. संरचना और प्रक्रिया – I : राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, मंत्रि परिषद,

इकाई-2. संरचना और प्रक्रिया – II –राज्यपाल, मुख्यमन्त्री, मंत्रि परिषद, राज्य विधायिका

इकाई-3. संधवाद : सिद्धान्त, व्यवहार एवं समस्याएं

इकाई-4. केन्द्र राज्य सम्बन्धों के उभरते प्रतिमान, स्वायत्तता की माँगें और पृथकतावादी आन्दोलन

खण्ड 3 व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका

इकाई-1. राज्यसभा-संगठन, शक्तियाँ, एवं कार्य

इकाई-2. लोकसभा-संगठन, शक्तियाँ, एवं कार्य

इकाई-3. संसद की सर्वोच्चता एवं लोकसभा अध्यक्ष

इकाई-4. सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक सुधार

खण्ड 4 दलीय व्यवस्था एवं चुनाव

इकाई-1. भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दल

इकाई-2. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भारतीय राजनीति में भूमिका

इकाई-3. दबाव समूह, जनमत, नागरिक समाज एवं संचार माध्यम

इकाई-4. चुनाव एवं चुनावी व्यवहार, चुनाव आयोग और चुनाव सुधार

अनुक्रम

क्र.सं.	इकाई के नाम	पृष्ठ क्रमांक
1.	**खण्ड 1 भारतीय संविधान के वैचारिक आधार**	
	इकाई-1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना, उद्देशिका एवं विशेषताएँ तथा वैचारिक तत्व	3-17
	इकाई-2. मौलिक अधिकार एवं मूल कर्तव्य	18-35
	इकाई-3. नीति-निर्देशक सिद्धान्त	36-48
	इकाई-4. सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के साधन के रूप में संविधान : संवैधानिक संशोधन एवं पुनर्विलोकन	49-59
2.	**खण्ड-2 सरकार की संरचना एवं संघीय व्यवस्था**	
	इकाई-1. संरचना और प्रक्रिया – I : राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, मंत्रि परिषद,	60-74
	इकाई-2. संरचना और प्रक्रिया – II –राज्यपाल, मुख्यमन्त्री, मंत्रि परिषद, राज्य विधायिका	75-86
	इकाई-3. संधवाद : सिद्धान्त, व्यवहार एवं समस्याएं	87-98
	इकाई-4. केन्द्र राज्य सम्बन्धों के उभरते प्रतिमान, स्वायत्तता की माँगें और पृथकतावादी आन्दोलन	99-111
3.	**खण्ड-3 व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका**	
	इकाई-1. राज्यसभा-संगठन, शक्तियाँ, एवं कार्य	112-122
	इकाई-2. लोकसभा-संगठन, शक्तियाँ, एवं कार्य	123-136
	इकाई-3. संसद की सर्वोच्चता एवं लोकसभा अध्यक्ष	137-149
	इकाई-4. सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक सुधार	150-172
4.	**खण्ड-4 दलीय व्यवस्था एवं चुनाव**	
	इकाई-1. भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दल	173-185
	इकाई-2. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भारतीय राजनीति में भूमिका	186-193
	इकाई-3. दबाव समूह, जनमत, नागरिक समाज एवं संचार माध्यम	194-203
	इकाई-4. चुनाव एवं चुनावी व्यवहार, चुनाव आयोग और चुनाव सुधार	204-211

खण्ड –1 भारतीय संविधान के वैधारिक आधार
इकाई–1 भारतीय संविधान की प्रस्तावना, उद्देष्यिका एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. भारतीय संविधान की उद्देषिका,
1.1.3. उद्देषिका का महत्व,
1.1.4. निर्वाचन में सहायक के रूप में उद्देषिका,
1.1.5. उद्देषिका से लाभ,
1.1.6. संविधान का स्त्रोत उद्देषिका,
1.1.7. प्रभुत्वसम्पन,
1.1.8. लोकतंत्रात्मक,
1.1.9. गणतन्त्र,
1.1.10. पंथ निरपेक्ष,
1.1.11. समाजवाद,
1.1.12. स्वतंत्रता,
1.1.13. समता,
1.1.14. बंधुता,
1.1.15. न्याय
1.1.16. अखण्डता, उद्देषिका में संषोधन,
1.1.16.1. भारतीय संविधान की विशेषताएँ
1.1.16.2. वषालतम/सबसे लम्बा संविधान,
1.1.16.3. कठोरता एवं लचीलेपन का समन्वय,
1.1.16.4. एकात्मक की ओर झुका हुआ संघात्मक शासन,
1.1.16.5. संसदात्मक शासन व्यवस्था,
1.1.16.6. मौलिक अधिकार,
1.1.16.7. नीति–निर्देषक तत्व,
1.1.16.8. संसद की सर्वोच्चता,
1.1.16.9. एकल नागरिकता,
1.1.16.10. सामाजिक समता की स्थापना,
1.1.16.11. स्वतंत्र न्यायपालिका एवं अन्य स्वतंत्र अभिकरण,
1.1.16.12. वयस्क मताधिकार,
1.1.16.13. ग्राम पंचायतों की स्थापना,
1.1.16.14. संकटकालीन उपबन्ध,
1.1.16.15. सम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की समाप्ति,
1.1.16.16. अल्पसंख्यक व पिछडे वर्गों के कल्याण की विषेष व्यवस्था,
1.1.16.17. विष्व शान्ति का समर्थन,
1.1.16.18. स्वतंत्र–न्यायपालिका,
1.1.17. सारांष

1.1.18. दीर्घ उत्तरीय
1.1.19. लघु उत्तरीय प्रष्न।
1.1.20. बहु विकल्पीय प्रष्न
1.1.21. संदर्भ सूची

1.1.0. उद्देश्य– इस पाठ के माध्यम से विद्यार्थियों में–

- भारतीय संविधान की प्रस्तावना अथवा उद्देषिका के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के प्रयास किय जाएगे।
- भारतीय संविधान की उद्देषिका के महत्व का ज्ञान दिया जाएगा।
- भारतीय संविधान की विशेषताओं से अवगत कराना जाएगा।
- भारतीय संविधान अन्य देष के संविधानों का समन्वय है, यह समझाने का प्रयास किया जाएगा।

1.1.1. प्रस्तावना

स्वतंत्रता प्राप्ति के पष्चात् सबसे महत्वपूर्ण कार्य था एक ऐसे संविधान की रचना करना जिसके माध्यम से हम उन उद्देश्यों की प्राप्त कर सकें जिसके लिये हमने स्वंतंत्रता की लड़ाई लड़ी थी। यह एक कठिन कार्य था। हमारे समक्ष अनेक चुनौतियॉ एवं कठिनाइयॉ थीं।

कैविनेट योजना के अनुसार नवम्बर, 1946 को संविधान सभा के सदस्यों को चुनाव किया गया। कुल 296 सदस्यों में 211 सदस्य काग्रेंस के चुने गये और 73 मुस्लिम लीग के तथा शेष खली रहे। संविधान सभा के प्रमुख सदस्य निम्नलिखित थे।' जवाहर लाल नेहरू, राजेन्द्र पसाद, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, गोपाल स्वामी आयंगर, गोविन्द बल्लभ पंत, अब्दुल गफ्फार खॉ, टी. टी. कृष्णामाचारी अल्वादी कृष्णास्वामी अय्यर, हृदयनाथ कुंजरू, सर. एच. एस. गोंड, के. टी. शाह, मसानी, आचार्य कृपालानी, डॉ. अम्बेडकर, डा. राधा कृष्णन, डॉ. जयषंकर, लियाकत अली खॉ, ख्वाजा नजीमुद्दीन, सर फिरोज खान नून, सुहरावर्दी, सर जफरूल्ला खॉ, डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा आदि।

संविधान बनाने के लिए जब संविधान–सभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई तो उसके सामने अनेक चुनौतियॉ थीं। एक ओर तो वो सीमाऍं थीं जिन्हें कैबिनेट योजना ने लगाया था और दूसरी ओर मुस्लिम लींग ने यह निर्णय किया था कि संविधान सभा की बैठक में सम्मिलित नहीं होगी। इन सबसे विचलित हुए बिना हमारे संविधान निर्माता अपने कर्त्तव्यपथ पर साहस और निष्चय के साथ अड़े रहे। घटना चक्र तेजी से घूमा और 3 जून 1947 को यह निर्णय हो गया कि देष का विभाजन होना है। इसके पष्चात् मुस्लिम लीग के असहयोग का कोई महत्व नहीं रह गया। अगस्त 1947 में स्वतंत्रता अधिनियम पारित होने पर वे सभी परिसीमॉए भी समाप्त हो गई जो कैबिनेट प्रतिनिधि मण्डल द्वारा संविधान सभा पर लगाई गई थी। 1947 के अधिनियम के पारित होने पर संविधान सभा एक सम्प्रभु निकाय बन गई और वह भारत के लिए जैसा भी चाहे संविधान बना सकती थी। वह कैबिनेट –निषन की सीमाओं के भीतर कार्य करने के लिये बाध्य नहीं थी।

अनिष्चितता की स्थिति के बावजूद डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में गठित प्रारूप समिति ने संविधान सभा में संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया। संविधान सभा की बैठक में संविधान के प्रारूप पर 8 महीने बहस हुई और इस दौरान उसमें भी अनेक संषोधन किये गये। संविधान सभा के 11 अधिवेषन हुए। इस प्रकार संविधान सभा ने कुल मिलाकर 2 वर्ष 11 महीने और 18 दिन के अथक और निरन्तर परिश्रम के पष्चात् 26 नवम्बर, 1949 तक संविधान के निर्माण का कार्य पूरा कर लिया। संविधान के कुछ उपबन्ध तो उसी दिन अर्थात् 26 नवम्बर 1949 को प्रहत हो गए। और शेष उपबन्ध 26 जनवरी, 1950 को प्रवृत्त हुए जिसे संविधान के प्रवर्तन की तारीख कहा जाता है। यही वो ऐतिहासिक तिथि है। जिस दिन को भारतीय संविधान के निर्माण की खुषी में 'गणतन्त्र दिवस' के रूप में मनया जाता है।

संविधान प्रारूप समिति ने 315 धाराओं तथा 8 परिषिष्टों का मसविदा तैयार कर उसे 5 नवम्बर 1948 को संविधान सभा के सामने रखा। इस प्रारूप में 7,535 संषोधन प्रस्तुत किये गये, किन्तु बाद में 2,437 संषोधनों पर ही विचार किया गया और अन्तिम रूप से 395 धाराओं तथा 9 परिषिष्टों का संविधान 26 नवम्बर को स्वीकार किया गया।

1.1.2. भारतीय संविधान की उद्देषिका

प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक अधिनियम के प्रारम्भ में एक उद्देषिका रहती है। उद्देषिका के उन उद्देश्यों का उल्लेख किया जाता है जिनकी प्राप्ति के लिए कोई अधिनियम पारित किया जाता है। न्यायधिपति श्री सुब्बाराव के शब्दों में '' उद्देषिका किसी अधिनियम के मुख्य आदर्षों एवं आकांषाओं को उल्लेख करती है।'' उद्देषिका अधिनियम के उद्देश्यों एवं नीतियों को समझने में सहायक होती है। उच्चतम न्यायालय के अनुसार उद्देष्का संविधान–निर्माताओं के विचारों को जानने की कुंजी है। संविधान के प्रारम्भ में निर्माताओं का क्या उद्देश्य था या वे किन उच्चादर्षों की स्थापना संविधान में करना चाहते थे, इन सब को जानने का माध्यम उद्देषिका होती है।

संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई और कुछ ही दिन पष्चात् 13 दिसम्बर को उद्देश्य संकल्प प्रस्तावित हुआ। इस संकल्प द्वारा संविधान सभा के लक्ष्य और प्रयोजन निष्चित किए गए। इस संकल्प में जो मूल आंकाक्षाएँ थीं वे उद्देषिका में थोडे से शब्दों में बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुई है। उद्देषिका में आकर्षक व प्रवाहमेयी भाषा में इन उदक्त सिद्धान्तों को सामविष्ट किया गया है।

भारतीय संविधान की उद्देषिका इस प्रकार है– ''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विष्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिष्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीगृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

इस उद्देषिका का 1976 में संषोधन किया गया। पहले पैरा में दो शब्द समाजवादी और पंथनिरपेक्ष स्थापित किये गये। छठे पैरा में और अखण्डता शब्द जोड़े गये।

1.1.3. उद्देषिका का महत्व

इन री बेरूवारी युनियन के मामले उच्चतम न्यायालय ने उद्देषिका को संविधान का अंग मानने से इंकार कर दिया था। किन्तु केषवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले मं दिये गये निर्णय को उलटते हुए यह कहा कि उद्देषिका संविधान का भाग है क्योंकि जब अन्य सभी उपबंध अधिनियमित किए जा चुके थे उसके पष्चात् उद्देषिका को अलग से पारित किया गया। किसी साधारण अधिनियम में उद्देषिका को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना संविधान में। संविधान के उपबन्धों के निर्वाचन में उद्देषिका का बहुत बड़ा महत्व है। मुख्य न्यायमूर्ति श्री सीकरी ने कहा है कि हमारे संविधान की उद्देषिका अत्यन्त महत्पूर्ण है और संविधान को उनमें निहित उदात्त आदर्षों के अनुरूप निर्वाचन किया जाना चाहिये। प्रस्तुत मामले में अनु. 368 के अन्तर्गत उद्देषिका के आधार पर संसद की संविधान संषोधन की शक्ति पर परिसीमा लगाई गई थी और यह निर्णय दिया गया कि संसद संविधान में संषोधन तो कर सकती है किन्तु वह संविधान के ''आधारभूत ढॉचे'' को नष्ट नहीं कर सकती है।

उद्देषिका संविधान के विधिक निर्वाचन में सहायक है। इसके दो मुख्य प्रयोजन हैं'

(क) इससे यह प्रकट होता है कि संविधान के प्राधिकार का स्त्रोत क्या है।

(ख) इसमें वे उद्देश्य प्रतिष्ठित हैं जिन्हें संविधान स्थापित करना और आगे बढ़ाना चाहते हैं।

1.1.4. निर्वाचन में सहायक के रूप में उद्देषिका

उद्देषिका को संविधान के भाग के रूप में मान्यता दिये जाने से संविधान के निर्वाचन में सहायक के रूप में उसका महत्व बढ़ गया हे। किन्तु इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्तावना लागू होगी।

(क) उद्देषिका शक्ति का स्त्रोत नहीं है। शक्ति का आधार कोई विनिर्दिष्ट उपबन्ध नही हो सकात है।

(ख) उद्देषिका को विधान मण्डल की शक्तियेां पर प्रतिबन्ध या मार्यादा लगाने के लिए स्त्रोत नहीं बनाया जा सकता है।

(ग) जहॉ किसी अनुच्छेद के शब्दों का अर्थ संदिग्ध है या उसके दो अर्थ हो सकते हैं। वहां उसका अर्थ ज्ञात करने के लिये उद्देषिका में स्थापित उद्देश्यों में कुछ सहायता ली जा सकती है।

1.1.5. उद्देषिका से लाभ :–

1) संविधान का स्त्रोत क्या है, अर्थात, 'भारत के लोग',
(2) संविधान का उद्देश्य क्या है। अर्थात् इसमें उन महान् अधिकारों व स्वतंत्रताओं की घोषणा की गई है। जिन्हें भारत के लोगों ने सभी नागरिकों के लिये सुनिष्चित बनाये रखने की इच्छा की थी।
(3) इसमें संविधान के प्रवर्तन की तिथि का उल्लेख है।

1.1.6. संविधान का स्त्रोत उद्देषिका

उद्देषिका के प्रयुक्त 'हम भारत के लोग' इन शब्दों से प्रदर्षित होता है कि भारत एक प्रजातंत्र है। यहॉ कोई आनुवांषिक राजा नहीं हो और जनता ने अपनी सम्प्रभु इच्छा को इस संविधान के माध्यम से व्यक्त किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यहा जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा द्वारा संविधान का निर्माण किया गया है।

भारत में जनता अपनी सरकार स्वयं चुनेगी। विधान मण्डल निर्वाचित होंगे और प्रजातंन्त्र का राष्ट्रपति भी निर्वाचित होगा। प्रजातंत्र की परम्परा हमारे देष में नई नही है। इतिहास के प्रारम्भ से हमें प्रजातंत्र का ज्ञान रहा है। महाभारत में भी अनेक गणों का उल्लेख मिलता है।

1.1.7. प्रभुत्व सम्पन्न

स्वतंत्रता एवं प्रभुत्व सम्पन्नता एक–दूसरे के पूरक हैं। उद्देषिका में लिखित प्रभुत्तव सम्पन्न शब्द इस बात का द्योतक है कि भारत आन्तरिक या बाह्य दृष्टि से किसी भी विदेषी सत्ता के अधीन नही हैं। यह सम्प्रभुता भारत की जनता में निहित है। भातर अपनी विदेषी–नीति के मामले में पूर्णतया स्वतंत्र है। वह किसी देष से मित्रता एवं सन्धि कर सकता। स्वतंत्रता के पष्चात् भी भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य है। किन्तु यह सदस्यता भारत की सम्प्रभुता पर अंष मात्र भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालती है। भारत ने इसकी सदस्यता अपनी इच्छा से स्वीकार की है और वह जब चाहे इसकी सदस्यता से अपने को अलग कर सकता है।

1.1.8. लोकतंत्रात्मक

लोकतन्त्रात्मक शब्द इस बात का परिचायक है कि भारत की सरकार की शक्ति का स्त्रोत भारत की जनता है। लोकतंत्रात्मक सरकार जनता की जनता के लिए तथा जनता के द्वारा स्थापित सरकार है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि देष का शासन चालते है, किन्तु वे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। भारत में अप्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक प्रणाली को अपनाया गया है।

लोकतंत्र किसी एक विचार को लेकर नहीं चलता। कोई एक वाद, समाजवाद, समूहवाद या पूंजीवाद लोकतंत्र का आधार नहीं हो सकता। लोकतांत्रिक समाज सदा नये प्रत्यक्ष एक नए दृष्टिकोण ग्रहण करता है। लोकतन्त्र एक प्रक्रिया है जिससे राज्य अपने उद्देश्य का चयन करता है। ऐसे समाज में जो राजनीति की दृष्टि से गठित है राजनीतिक विचार प्रकट करना देष के शासन में भाग लेने का सर्वमान्य और सर्वोत्तम ढंग है। परन्तु लोकतंत्र केवल राजनीतिक नहीं है। सामाजिक भी है। इसमें केवल लोकतांत्रिक सरकार की ही कल्पना नहीं है बल्कि

ऐसे समाज की कल्पना है जिसमें विचारों का मुक्त आदान–प्रदान हो और प्रत्येक व्यक्ति की समाज में समान प्रतिष्ठा हो।

1.1.9. गणतन्त्र

गणतंत्र में सभी पद नागरिकों द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। भारत का षिखरस्थ अध्यक्ष जनता का अप्रत्यक्ष चुना हुआ प्रतिनिधि होता है। किसी भी नागरिक के लिए किसी भी लोकपद पर निर्वाचित होने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसका अर्थ यह भी है कि संविधान के अधीन सभी प्राधिकारों का स्त्रोत भारत के लोग हैं कोई वंषानुगत शासक नहीं।

भारत का राष्ट्रपति एक निष्चित अवधि के लिए (5 वर्ष) चुना जाता है। देष की समस्त कार्यपालिका शक्ति उसमें निहित हेाती हैं, किन्तु वह उसका प्रयोग मंत्रिण्डल के परामर्ष से करता है।

1.1.10. पंथ निरपेक्ष

उद्देष्किा के अनुसार भारत के लोगों ने भारत को एक प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक धर्म–निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य में प्रयुक्त ''विष्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता'' की पदावली में पहले से ही अन्तनिहित थी। 42वें संविधान संषोधन द्वारा उसे स्पष्ट कर दिया गया है। 'पंथ–निरपेक्ष' राज्य से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो किसी विषेष धर्म को राजधर्म के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करता है। वरन् सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करता है एवं उन्हें समान संरक्षण प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म को मानेगा उसके अनुसार आचार करने एंव उसका प्रचार करने के लिये पूर्णतयः स्वतंत्र है।

'अरून राय बनाम भारत संघ' के मामले में अपने निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि 'पंथ निरपेक्षता का सकारात्मक अर्थ है जिसके अनुसार सभी धर्मों का ज्ञान होना और उनके प्रति आदर की भावना का बीच पैदा करना है। 'न्यायमूर्ति श्री धर्माधिकारी के अनुसार– संविधान की उद्देषिका तथा अनुच्छेद 25 से 30 और भाग 4 ए में पंथ निरपेक्षता शब्द जोड़ा गया है। इसका तात्पर्य सभी धर्मों के प्रति तटस्थता और उपेक्षा माना गया है। किन्तु कई स्थानों पर हम एक–दूसरे के धर्मों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करने में विफल रहे। अतः हम सभी को धर्मनिरपेक्ष का सकारात्मक अर्थ लेना चाहिए, जिसके अनुसार नागरिको को धर्म का ज्ञान होना चाहिए ताकि उनमें एक–दूसरे के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो।

1.1.11. समाजवादः

'समाजवाद शब्द भी 42वें संविधान संषोधन द्वारा जोड़ा गया। 'समाजवाद' शब्द की कोई निष्चित परिभाषा देना कठिन है। किन्तु इतना तो निष्चित है कि समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के मुख्य साधनों पर सरकार की नियंत्रण की मात्रा कितनी अधिक या कितनी कम है, इस आधार पर समाजवाद के वास्तविक स्वरूप का अवधारण किया जाता है। भारतीय समाजवाद 'लोकतांत्रिक समाजवाद' की स्थापना के प्रयास में अग्रसर है। लोकतंत्र और समाजवाद के इस अनोखे सामंजस्य के प्रयास की परिकल्पना इस दिषा में एक नवीन कदम है।

'डी. एम. नकारा बनाम भारत संघ' के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि समाजवाद का मूल तत्व कमजोर वर्ग और कर्मकारों के जीवन–स्तर को ऊँचा करना है और उनके लिए जन्म से मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा की गारण्टी देना है। इसका अर्थ आर्थिक समानता एंव आय के समान वितरण से है। यह गॉधीवाद व मार्क्सवाद का अनोखा मिश्रण है जो निष्चित रूप से गॉधीवाद की ओर झुका हुआ है। यह वही समाजवाद का स्वरूप है जिसकी स्थापना हम भारत में करना चाहते हैं।

उद्देषिका में प्रयुक्त ''आर्थिक न्याय' पदावली में समाजवाद की उपधारणा अन्तर्निहित है। संविधान निर्माताओं ने इसे 'आर्थिक न्याय' पदावली की कोई निष्चित परिभाषा नहीं दी है। प्रस्तुत संषोधन इस 'आर्थिक न्याय' को एक दिषा प्रदान करता है।

1.1.12. स्वतंत्रता

उद्देषिका में जिन स्वतंत्रताओं का उल्लेख है उन्हें अनुच्छेद 19 ओर अनुच्छेद 25 से 28 में स्थान दिया गया है। स्वतंत्रता को तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है– राजनीतिक, सिविल और आर्थिक । राजनीतिक स्वतंत्रता में मत देने का और निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार आता है। सिविल स्वतंत्रता के अधिकार में दैहिक स्वतंत्रता, व्यक्ति और सम्पत्ति की सुरक्षा आते है। इसी की परिधि में विचार और अभिव्यकित की स्वतंत्रता, व्यापार व उद्योग की स्वतंत्रता, नियोजन की स्वतंत्रता, सम्मेलन व संगम की स्वतंत्रता तथा अंतःकरण और उपासना के साथ–साथ मानसिक स्वतंत्रता भी है।

1.1.13. समता

समता के अधिकार के अन्तर्गत न्याय, कराधान व लोकपद तथा नियोजन के विषय में समान व्यवहार का अधिकार है। इससे यह भी अभिप्रेत है कि सभी विधियां समान रूप से लागू की जाएंगी। अनुच्छेद 14 से 18 के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को प्रभावी बनाया गया है।

1.1.14. बंधुता

वार्कर के अनुसार बंधुता सहकारिता का सिद्धान्त है। बंधुता वह भावना है जिससे यह भाईचारा उत्पन्न होता है कि हमें एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए और हम मिलकर अपने जीवन को ऊपर उठा सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि एक ही मातृभूमि के पुत्र होने के कारण सभी नागरिक भाई–भाई है। जिन्हें सुख और दुःख में एक दूसरे का साथ निभाना चाहिए। भाई होने के नाते वह एक साथ जिएंगे और मरेंगे। इन भ्रातृगणों से मिलकर ही राष्ट्र बनता है।

उद्देषिका में बंधुता को दो बातों से जोड़ा गया है–
(क) व्यक्ति की गरिमा सुनिष्चित करना और
(ख) राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिष्चित करना।

1.1.15. न्याय

उद्देषिका में तीन प्रकार के न्याय उल्लिखित हैं। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। सामाजिक न्याय अधिकाधिक हित दर्षाता है– बहुतन हिताय, बहुजन सुखाय। इसमें दूसरों के अधिकारों पर निर्बंधन नहीं लगाए जाते। इससे यह भी अभिप्रेत है कि न्यायालय समाज के दुर्बल वर्गों का पक्ष लेते हैं। अनुच्छेद 17 और 18 सामाजिक न्याय की प्राप्ति के प्रयास हैं।

समाजिक और आर्थिक न्याय के संयोजन से वितरणवादी न्याय बनता है। असमानताओं को मिटाया नहीं जा सकता इसलिए संविधान में असमानतों को कम करने का प्रयास किया गया है।

अनुच्छेद 14 से 18 में जो समता के उपबंध हैः वे राजनीतिक न्याय के अधार हैं। निर्वाचन प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार राजनीतिक न्याय की प्रत्याभूति है। राजनीतिक न्याय देने के लिए संविधान में सभी नागरिकों को मताधिकार दिया गया है। केवल ऐसे नागरिकों को ही इस अधिकार से वंचित किया गया है जो विधि या आयु के कारण वर्जित हैं (18 से कम के व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति जो पागल या दोष सिद्ध हैं।)

1.1.16. अखण्डता

यह उपधारणा संविधान की संघात्मक प्रवृत्ति में ही निहित है। इस शब्द (अखण्डता) को भी 42वें संविधान संषोधन द्वारा समाविष्ट किया गया है। संविधान किसी भी व्यक्ति को देष की अखण्डता के विरूद्ध कुछ भी कहने या करने के लिए उत्प्रेरित करने से वर्जित करता है। अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत राज्य को नागरिकों की स्वतंत्रताओं पर देष की 'अखंण्डता' के आधार पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने की शक्ति प्राप्त है।

उद्देष्किा में संषोधन :– क्या उद्देष्किा में अनुच्छेद 368 के अधीन संषोधन किया जा सकता है? 'केषवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' के मामले में सरकार की ओर से यह तर्क दिया गया कि चूँकि उद्देषिका भी संविधान का एक भाग है, अतः अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत उसमें संषोधन की शक्ति लागू हेाती है। अपीलार्थी की ओर से कहा गया कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संषोधन की शक्ति सीमित है और उद्देषिका स्वयं संषोधन की शक्ति पर विवादित परिसीमा (Inplied Limitation) लगाती है। उद्देषिका में संषोधन का आधारभूत ढॉचा (Basic features) निहित है, जिसकों संषोधन करके नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्येांकि यदि उनमें से कोई भी निकाल दिया गया तो संविधानिक ढॉचे का गिर जाना निष्चित है।

12वे संविधान संषोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद को उद्देषिका में संषोधन करने के शक्ति है। इस संषोधन द्वारा केष्वानन्द भारती के मामले में दिय गये निर्णय के प्रभाव को दूर करने का प्रयास किया गया, जिसमें यह निर्णय दिया गया कि उद्देषिका के उस भाग में, जो मूल ढॉचे से सम्बन्धित है, संषोधन नहीं किया जा सकता है किन्तु जब तक केषवानन्द भारती का निर्णय उलट नहीं दिया जाता है उद्देषिका में किय गये संषोधन को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वह उद्देषिका में निहित किसी आधारभूत ढॉचे को नष्ट करता है।

1.1.16.1. भारतीय संविधान की विशेषताएं :– भारतीय संविधान अनेक विशेषताओं से सुसजिज्जत है जिनमें से प्रमुख का वर्णन हम यहॉ करेंगे।

1.1.16.2. विषालतम/सबसे लम्बा संविधान :– संविधान के विद्यार्थी को जो सबसे पहले दिखाई देता है, वह है संविधान की विषाल काया। इसकी तुलना में दूसरे देषों में संविधान छोटी सी पुस्तिका दिखाई देते हैं। अमेरिका के संविधान में 5,000 से कम शब्द है। कनाडा का संविधान 1982 में बना उसकी शब्द संख्या 6,500 से भी कम है। सर आइवर जेनिंग्स ने भारतीय संविधान को ' विष्व का सबसे बड़ा और विस्तृत संविधान' कहा है। जेनिंग्स का यह कथन वस्तुतः ठीक है। मूल संविधान में कुल 395 अनुच्छेद ये जो 22 भागों में विभाजित थे और इनमें 8 अनुसूचियॉ थीं। किन्तु 86 वें संविधान संषोधन अधिनियम 2002 के पष्चात् संविधान में अब कुल 448 अनुच्छेद हो गये हैं जो 26 भागों में विभाजित हैं और उसमें 12 अनुसूचियॉ हैं। 1950 से 2003 के दौरान 21 अनुच्छेदों को संविधान में से निरस्त किया गया है, किन्तु 69 नये अनुच्छेदों को जोड़ा गया है। इसमें अमेरिका के संविधान में मूल–अधिकार, ब्रिटेन के संविधान से संसदीय प्रणाली, आयरलैण्ड के संविधान से राज्य के नीति निदेषक तत्व और जर्मन के संविधान तथा भारत सरकार अधिनियम 1935 से आपात् उपबन्धों को लेकर भातरीय संविधान का निर्माण किया गया। भौगोलिक दृष्टि से देष की विषालता तथा यहॉ की विषेष समस्याओं ने भी संविधान को बड़ा बनाने में योगदान दिया है।

1.1.16.3. कठोरता एंव लचीलेपन का समन्वय :– कानून दो प्रकार के होते हैं– साधारण कानून और संवैधानिक कानून। संवैधानिक कानून उन्हें कहते हैं, जिन पर शासन का सारा ढॉचा ही आधारित होता है। यदि संविधान में संषोधन करने के लिये साधारण कानून के निर्माण से भिन्न किसी पद्धति को अपनाना आवष्यक होता है, तो उसे कठोर संविधान कहते है। इस दृष्टि से भारत का संविधान एक कठोर संविधान है। संविधान किसी देष की जनता के लिये बनाया जाता है। अतः उसकी आवष्यकताओं के अनुसार उसमें समय–समय पर परिवर्तन करना भी आवष्यक होता है। भारतीय संविधान एक लिखित संविधान होते हुए भी काफी लचीला संविधान है। संविधान में केवल कुछ ही उपबन्ध ऐसे है, जिनमें परिवर्तन करने के लिए एक विषेष प्रक्रिया का अनुसारण किया जाता है, जबकि अधिकतर उपबन्धों में संसद द्वारा साधारण विधि पारित करके ही परिवर्तन किया जा सकता है। यहॉ तक कि संषोधन की विषेष प्रक्रिया भी विष्व के अन्य संधात्मक संविधानें की अपेक्षा अधिक सरल है।

पं. नेहरू ने संविधान के संषोधन की प्रकृति के विषय में कहा था– ''हॉलॉकि हम इस संविधान को इतना ठोस व स्थाई बनाना चाहते हैं, जितना कि हम बना सकते हैं, फिर भी संविधान में कोई स्थायित्व नहीं है। इसमें कुछ सीमा तक परिवर्तनषीलता होनी ही चाहिए। यदि आप किसी वस्तु को अपरिवर्तनषील व स्थाई बना देंगे तो इस प्रकार आप एक जीवित एंव संगठित राष्ट्र की प्रगति को भी रोक देंग। जबकि दुनिया एक संक्रान्ति काल (Transitional Phase) में है और हम परिवर्तन की अत्यन्त ही तीव्र गति के युग से गुजर रहे हैं, तब सम्भव है कि हम आज जो कुछ कह रहे हैं, कल नहीं पूरी तरह से लागू न हो सके।

1.1.16.4. एकात्मकता की ओर झुका हुआ संघात्मक शासन :– भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार, ''इण्डिया अर्थात् भारत राज्यों का एक संघ होगा। यह भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसके केन्द्रीकरण की सबल प्रवृत्ति है इस प्रकार भारत में संधात्मक शासन की स्थापना की गई है और उसमें शासन के सभी लक्षण विद्यमान है। संविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न कर केन्द्र और राज्य सरकारें में विभाजित कर दी है और दोनों की अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्र है। संविधान लिखित और बहुत सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गई है। उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है। जिसे संविधान की व्याख्या करने और केन्द्र व राज्य के मध्य संवैधानिक झगड़ो के निर्णय का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत में सघात्मक शासन–व्यवस्था स्थापित की गई है, कि इसमें कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनका झुकाव एकात्मक शासन की और स्पष्ट होता है जैसे–इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएँ, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों की नियुक्ति आदि। अन्त में राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के अन्तर्गत, संकटकाल की घोषणा द्वारा स्पष्ट रूप से संघात्मक और एकात्मक दोनें ही रूप ग्रहण कर सकता है। इन सब विशेषताओं के कारण कुछ लेखकों ने भारतीय संघ को 'अर्ध–संघात्मक' (Quast Federal) कहा है। वास्तव में, यह एक ऐसी संधात्मक शासन–व्यवस्था है, जिसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

1.1.16.5. संसदात्मक शासन व्यवस्थाः– व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से जो दो प्रकार की शासन–व्यवस्थाएँ होती है, उनमें संविधान निर्माताओं ने केन्द्र और राज्यों में संसदात्मक शासन–व्यवस्था को ही अपनाया है। संसदात्मक शासन व्यवस्था के तीन–प्रमुख लक्षण होते हैं–

(क) शासन का एक नाम–मात्र का प्रधान (संवैधानिक अध्यक्ष)।
(ख) व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का पारस्परिक सम्बन्ध,
(ग) कार्यपालिका का कार्यकाल निष्चित ना होना।

हमारे देष के संविधान में संसदात्मक शासन के तीनों की लक्षण विद्यमान हैं। राष्ट्रपति भारतीय शासन का नाममात्र का प्रधान है। संविधान के अनुच्छेद 75 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'भारतीय मन्त्रिमंडल व्यवस्थापिका अर्थात् संसद के प्रति उत्तरदायी होगा। ' मंत्रिमण्डल का कार्यकाल निष्चित नहीं है और लोकसभा मंत्रिपरिषद् के विरूद्ध अविष्वास का प्रस्ताव पास कर से पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार भारत में इंग्लैण्ड की ही भॉति संसदात्मक शासन पद्धति है।

1.1.16.6. मौलिक अधिकार :– मौलिक अधिकारों का तात्पर्य संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं से है, जिन्हें राज्य तथा सरकार के विरूद्ध भी लागू किया जा सकता है।

संविधान द्वारा नागरिकों को 7 मौलिक अधिकार प्रदान किये गये थे, लेकिन 44 वें संवैधानिक संषोधन द्वारा 'सम्पत्ति के अधिकार' को एक मौलिक अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया है और अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार रह गया है। मौलिक अधिकारों के विषय में विषेष बात यह है कि संविधान द्वारा ही अधिकारों के साथ–साथ प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी की गयी है और इस अधिकारों की क्रियान्विति की भी व्यवस्था है।

1.1.16.7. नीति निर्देषक तत्व :– भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिये कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है और इन्हें ही राज्य की नीति के निर्देषक तत्व अर्थात् नीति निष्चित करने वाले तत्व कहा गया है। केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों का कर्त्तव्य होगा कि वे राज्य के संचालन और कानून निर्माण में इन तत्वों का ध्यान रखें, किन्तु वे तत्व किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किये जा सकेंगे। इस प्रकार निर्देषक तत्तों को वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नहीं है लेकिन इन्हें नैतिक एवं राजनीतिक शक्ति अवष्य ही प्राप्त है। संविधान में नीति–निर्देषक तत्वों का उललेख करने की बात आयरलैण्ड के संविधान से ग्रहण की गई है।

1.1.16.8. संसद की सर्वोच्चता :– भारतीय संविधान मे संघात्मक व्यवस्था को अपनाते हुए अमेरिका जैसी 'न्यायिक सर्वोच्चता' को नहीं वरन् बहुत कुछ सीमा तक 'संसदीय सर्वोच्चता' को अपनाया गया है। भारतीय संविधान निर्माता संसदीय सर्वोच्चता को ही उचित समझते थे और भारतीय सवंधिान के अन्तर्गत यही विचार मान्य था। लेकिन फरवरी 1967 में 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' के विवाद में सर्वोच्च न्यायाल के द्वारा जो निर्णय दिया गया, उससे इस सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न हो गया था। 1971 में किये गये संविधान के 24वें संषोधन से यह भ्रमपूर्ण स्थिति समाप्त हो गई और अब स्थिति यह है कि संसद मौलिक अधिकारों संहित संविधान के किसी भी भाग में परिवर्तन कर सकती है।

1.1.16.9. एकल नागरिकताः– भारतीय संविधान के द्वारा संधात्मक शासन व्यवस्था स्थापित किये जाने के बावजूद देष के नगारिकों को एकल नागरिकता प्राप्त है। क्योंकि भारतीय संविधान निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाये रखने में बाधक सिद्ध हो सकता है। भारत का प्रत्येक नागरिक केवल भारत का नागरिक है, ना कि किसी प्राप्त का जिसमें वह रहता है। फलतः प्रत्येक नागरिक को नागरिकतता से उत्पन्न सभी अधिकार, विषेषाधिकार, तथा उन्मुक्तियॉ समान रूप से प्राप्त है। भारत की सांस्कृतिक परम्परा में अनेक भिन्नताओं के मध्य एकत्व की भावना रही है। देषभक्ति उस भावना का मूल आधार है जिस पर राष्ट्र की समूची एकता निर्भर करती है। अतएव सभी नागरिकों को केवल भारत के प्रति निष्ठावान् रहने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से एक नागरिकता का आदर्ष अपनाया गया है।

1.1.16.10. समाजिक समानता की स्थापना– सामान्यतया संविधानों के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नहीं। लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि संविधान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि ''अस्पृष्यता का अन्त किया जाता है, और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किस भी रूप में अस्पृष्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।'' भारत में दलित वर्गों की गिरी हुई स्थिति में सुधार करने के लिये संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था करना आवष्यक भी था।

1.1.16.11. स्वतंत्र न्यायपालिका एंव अन्य स्वतंत्र अभिकरण :– संघात्मक शासन–व्यवस्था में न्यायपालिका संविधान की व्याख्याता और रक्षक होने के कारण उसका स्वतंत्र होना आवष्यक है। इसके अतिरक्ति संविधान द्वारा नागरिकों को

प्रदत्त मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिये भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता नितान्त आवष्यक हो जाती है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु संविधान में अनेक विषेष व्यवस्थाएॅ की गई है यथा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीषों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीषों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीषों के कार्यकाल में उनके वेतन में कमी न हो सकना और न्यायाधीषों के आचरण पर व्यवस्थापिका द्वारा विचार ना कर सकना आदि।

स्वतंत्र न्यायपालिका के अतिरिक्त संविधान के द्वारा अन्य स्वतंत्र अभिकरणों की भी व्यवस्था की गई है, जिनमें निर्वाचन आयोग, नियंत्रण व महालेखा परीक्षक व लोक–सेवा आयोग प्रमुख हैं।

1.1.16.12. व्यस्क मताधिकारः– भारतीय संविधान के अन्तर्गत वयस्क मताधिकारी को अपनाया गया है, जिसके अनुसार सभी वयस्क स्त्री–पुरूष (पागल, दिवालिये और अपराधियों को छोड़कर) को मतदान का अधिकार दिया गया है।मतदान के लिये वयस्कता की आयु 21 वर्ष रखी गई है। जिस समय संविधान को अपनाया गया उस समय मतदाताओं की संख्या 18 करोड़ थी और आज उनकी संख्या बढ़कर लगभग 125 करोड़ हो गई है। प्रो. श्रीनिवास के शब्दों में ''साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति और वयस्क मताधिकार को अपनाया जाना नये सविधान की महान एवं क्रान्तिकारी विशेषता है।

1.1.16.13. ग्राम पंचायतों की स्थापनाः– संविधान निर्माताओं ने जहॉ एक ओर वींसवी सदी की शासन व्यवस्था को अपनाया है, वहीं दूसरी ओर इस बात को नहीं भुलाया है कि भारतीय व्यवस्था के आधार 'ग्राम' है जिनका प्रबन्ध ग्राम पंचायतों के आधार पर ही भली–भॉति सम्पन्न है। नीति निर्देषक तत्वों में कहा गया है कि 'ग्राम पंचायतों की स्थापना कर उन्हें, स्थानीय शासन की प्राथमिक इकाई बनाया जाएगा'। इकसे अनुसार 1959 में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को अपनया गया और ग्रामीण क्षेत्र में ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों व जिला परिषदें की स्थापना की गई है।

1.1.16.14. संकटकालीन उपबन्ध :– संकटकाल के सम्बन्ध में विषेष उपबन्ध हमारे संविधान की एक अन्य विषेषत है जिसके अनुसार संकटकाल में हमारी राज्य–व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण, परिवर्तन हो जाते हैं। संविधान में तीन प्रकार के संकटकाल का उल्लेख किया गया है।

- युद्ध या बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अषान्ति के उत्पन्न होने पर (अनुच्छेद–352)।
- राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था के भंग हो जाने पर (अनु. 356)।
- वित्तीय संकट के उत्पन्न होने पर (अनु. 360)।

1.1.16.15. साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की समाप्ति :– ब्रिटिष सरकार के द्वारा भारत के साम्प्रदायिक निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया था, जिसके कारण भारत की विभिन्न जातियों, विषेषतया हिन्दू और मुसलमानों के बहुत अधिक कटुता उत्पन्न हो गई। स्वतंत्र भारत के संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों को समाप्त कर संयुक्त प्रतिनिधि की पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें सब मिलकर एक साथ अपने प्रतिनिध निर्वाचित करते हैं।

1.1.16.16. अल्पसंख्यक व पिछडे वर्गों के कल्याण की विषेष व्यवस्था–संविधान में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, भाषीय एवं सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिये विषेष व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों तथा जनजाति क्षेत्रों की नागरिकों की सेवाओं, संविधान सभाओं एवं अन्य क्षेत्रों में विषेष संरक्षण दिया गया है। आरम्भ में यह व्यवस्था 1960 तक के लिये ही की गई थी किन्तु संविधान में संषोधन करके इसे बढ़ाया जाता रहा। पिछड़े हुए वर्गों को यह सुविधा इस दृष्टि से दी गई है कि इन वर्गों की बहुत गिरी हुई स्थिति होने के कारण इनके विकास के लिए विषेष सुविधाओं की आवष्यकता है।

1.1.16.17. विष्व शान्ति का समर्थनः– ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' भारतीय जीवन एवं संस्कृति का आदर्ष रहा है और हमारे संविधान निर्माता भी इस आदर्ष के प्रति सचेष्ट थे। इसी कारण संविधान के नीति निर्देषक तत्वों में कहा गया है कि ''राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा तथा शान्ति की उन्नति का और राज्यों के बीच न्याय तथा समानता और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का पूर्ण प्रयास करेगा। ''व्यवहार के अन्तर्गत श्री भारत द्वारा विष्व षान्ति बनाये रखने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा की गई है।

1.1.16.18. स्वतंत्र न्यायपालिका :– स्वतंत्र न्यायपालिका की स्थापना भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। संघात्मक संविधानों में प्रायः दोहरी न्याय पद्धति होती है।– एक संघ की, दूसरी राज्यो की। इसके विपरीत भारतीय संविधान संघात्मक होते हुए भी सारे देष के लिये न्याय–प्रषासन की एक ही व्यवस्था करता है, जिसके षिखर पर उच्चतम न्यायलय वर्तमान है। देष की विधियों में एकरूपता, स्पष्टता तथा स्थिरता की दृष्टि से इकरी न्याय–व्यवस्था के वादों से इन्कार नहीं किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय न केवल संविधान का वरन् नागरिकों के मूल अधिकारों का भी संरक्षक तथा जागरूक प्रहरी है। स्वतंत्र न्यायपालिका प्रजातंत्र की आधारषिला है। न्यायपालिका को केन्द्र तथा राज्यों में से किसी एक के भी अधीन नहीं रखा गया है। इस दृष्टि से भारत की न्यायपालिका, जिसके षिखर पर उच्चतम न्यायालय अधिष्ठित है, संसार की सभी न्यायपालिकाओं की अपेक्षा सुदृढ एवं शक्तिषाली और वह प्रजातांत्रिक व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल हैं

1.1.17. सारांष

डायसी ने एक स्थान लिखा है कि 'संविधान की तुलना उस देषी पौधे से की जा सकी है, जो विदेषी भूमि पर नहीं उगता।' परन्तु डायसी का यह कथन भारतीय संविधान पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होता क्योंकि भारतीय संविधान के निर्माण में देषी और विदेषी उनेक प्रकार के प्रभावों से प्रमुख भूमिका अदा की है। इसी स्थिति के कारण कुछ लोगों के द्वारा भारतीय संविधान को 'उधार का थैला' (Bag of Borrowings) कहा गया है, लेकिन वास्तव में ऐसी आलोचना उचित नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय संविधान में अन्य संविधानों की नकल करते हुए उनके सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों ग्रहवा नहीं किया गया है, वरन् उन्हें अपने देष की विषेष परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया है। संविधान निर्माताओं का उद्देश्य मौलिक संविधन की रचना नहीं वरन् एक 'व्यावहारिक संविधान' (Workable Constitution) था और इसी कारण ऐसा किया गया।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान की आत्मा कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान की दर्पण है जिसमें पूरे संविधान को तस्वीर दिखाई देती है, यह संविधान का चेहरा है जिससे संविधान की पहचान होती है।

संविधान किसी भी देष का एक कानूनी दस्तावेज होने के साथ–साथ नैतिक नियम भी है। भारत का संविधान जिस समय बनया गया, उसे समय की तत्कालीन परिस्थितियों तक सीमित नहीं रखना चाहिये। क्योंकि भारतीय संविधान सर्वोच्च रूप से विभिन्न विचारधाराओं तथा संवैधानिक नियमों और मूल्यों का स्थापित करता है।

भारतीय संविधान अनेक देषों के संविधान की विषेषतओं को मिश्रित करके बनाया गया है। संक्षेप में, भारत का संविधान जनता की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्त पर आधारित है, तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। भारतीय संविधान के स्वरूप और विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारत का संविधान एक ऐसा आदर्ष प्रलेख है जिसमें सिद्धान्त और व्यावहारिका का श्रेष्ठ समन्वय है।

1.1.18. दीर्ध उत्तरीय प्रष्न :–

1. भारत के संविधान की उद्देषिका के महत्व पर प्रकाष डालिये।
2. भारतीय संविधान की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
3. भारत एक धर्म निरपेक्ष प्रभुत्तवसम्पन्न, लोकतांत्रिक गणराज्य हैं, इस कथन की व्याख्या कीजिये।
4. यह कहना कहॉ तक उचित है कि यद्यपि भारतीय संविधान का रूप संघात्मक है, परन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।
5. भारतीय संविधान की प्रकृति पर निबन्ध लिखिए।

1.1.19. लघु उत्तरीय प्रष्नः–

1. भारतीय संविधान की उद्देषिका
2. संविधान के स्त्रोत
3. एकात्मक की ओर झुका संघात्मक शासन
4. संकटकालीन उपबन्ध।

1.1.20. बहु विकल्पीय प्रष्न–

1) संविधान सभा की पहली बैठक कब हुई थी?
   (क) 9 दिसम्बर, 1946 (ख) 9 अगस्त, 1946
   (ग) 3 दिसम्बर, 1946 (घ) 3 जून, 1946
2) भारतीय संविधान के कितने अनुच्छेद हैं?
   (क) 388 (ख) 444
   (ग) 395 (घ) 432
3) समाजवाद शब्द किस संविधान संषोधन के द्वारा जोड़ा गया?
   (क) 40 वें (ख) 42 वें
   (ग) 44 वें (घ) 46 वें
4) वित्तीय आपातकाल संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत आता है?

(क) अनुच्छेद 356 (ख) अनुच्छेद 352
(ग) अनुच्छेद 360 (घ) अनुच्छेद 362

5) वित्तीय आपातकाल संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत आता है?
(क) एकल (ख) दोहरी
(ग) तिहरी (घ) चौहरी

1.1.21. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिष्चन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

इकाई –2 मौलिक अधिकार एवं मूल कर्त्तव्य

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. मूल अधिकार का अर्थ
1.2.3. भारतीय संविधान के अधिकार पत्र की विशेषताएँ
    1.2.3.1. सर्वाधिक विस्तृत अधिकार–पत्र
    1.2.3.2. मूल अधिकार सीमित है, निरंकुष नहीं
    1.2.3.3. मूल अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था
    1.2.3.4. प्राकृतिक या अगणित अधिकारों के लिये कोई स्थान नहीं
1.2.4. संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार
    1.2.4.1. समानता का अधिकार
    1.2.4.2. विधि के समक्ष समता अथवा विधियों के समान संरक्षण का अधिकार
    1.2.4.3. धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध
    1.2.4.4. राज्य के अधीन नौकरियों का समान अवसर
    1.2.4.5. अस्पृष्यता का निषेध
    1.2.4.6. उपाधियों का निषेध
    1.2.4.7. स्वतंत्रता का अधिकार
        1.2.4.7.1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता
        1.2.4.7.2. अस्त्र–षस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन की स्वतंत्रता
        1.2.4.7.3. समुदाय और संघ के निर्माण की स्वतंत्रता
        1.2.4.7.4. भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता
        1.2.4.7.5. स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध
1.2.5. अपराध की दोष सिद्धि के विषय में संरक्षण
1.2.6. व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन की सुरक्षा
1.2.7. बन्दीकरण की अवस्था में संरक्षण
    1.2.7.1. निवारक निरोध
    1.2.7.2. सामान्य काल और संकट काल दोनों मं लागू
    1.2.7.3 निवारक निरोध अधिनियम
    1.2.7.4 आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम, 1971
    1.2.7.5 राष्ट्रीय सुरक्षा
    1.2.7.6 टाडा का समाप्ति
    1.2.7.7 आतंकवाद निरोधक कानून (पोटा) मार्च, 2002
1.2.8. शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनु. 23 और 24)
1.2.9. बल श्रम का निषेध
1.2.10. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
    1.2.10.1. अन्तःकरण की स्वतंत्रता
    1.2.10.2. धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतंत्रता
    1.2.10.3. धार्मिक व्यय के लिये निष्चित धन पर कर की अदायगी की छूट

1.2.11. राजकीय षिक्षण संस्थाओं में धार्मिक षिक्षा निषि
1.2.12. संस्कृति और षिक्षा सम्बन्धी अधिकार
1.2.13. षैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना का अधिकार
1.2.14. संवैधानिक उपचारों का अधिकार
1.2.16 बन्दी प्रत्यक्षीकरण
    1.2.16.1. परमोदष
    1.2.16.2. प्रतिवेघ
    1.2.16.3. उत्पेषण
    1.2.16.4. अधिकार पृच्छा
1.2.17. मूल अधिकारें का मूल्यांकन
1.2.18. मूल कर्त्तव्य
    1.2.18.1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्षों, संस्थाओं व राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान
    1.2.18.2. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्षों का पालन
    1.2.18.3. भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा
    1.2.18.4. देष की रक्षा और राष्ट्र सेवा
    1.2.18.5. भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास
    1.2.18.6. समन्वित संस्कृति की गौरवषाली परम्परा की रक्षा
    1.2.18.7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव
    1.2.18.8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास
    1.2.18.9. सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा व हिंसा से दूर रहना
    1.2.18.10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास
1.2.19. आलोचना
    1.2.19.1. कर्त्तव्य के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था नहीं
    1.2.19.2. षा की अस्पष्टता
    1.2.19.3. अत्यधिक आदर्षवादी
1.2.20. सारांष
1.2.21. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
1.2.22. लघु उत्तरीय प्रष्न
1.2.23. बहु विकल्पीय प्रष्न

1.2.0. उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य छात्रों में भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल कर्त्तव्यों के प्रति जानकारी उपलब्ध कराना।

- भारतीय संविधान के मूल अधिकारों का ज्ञान करवाना,
- छात्रों को मूल अधिकारों व मूल कर्त्तव्यों के मध्य समन्वय की स्थिति से अवगत कराना।
- मूल अधिकारों पर लगे प्रतिबन्धों की षिक्षा प्रदान करना है।

1.2.1. प्रस्तावना

मूल अधिकारों का स्रोत बहुत प्राचीन है और इसमें उसके श्रेष्ठ पुरूषों का योगदान रहा है। ये नैसैर्गिक अधिकार है जो मानव को अपनी क्षमताओं को विकसित करने के लिये सर्वोत्तम भूमि और जलवायु उपलब्ध कराते हैं। इन प्रतिभूत और सुरक्षित दषाओं को मूल अधिकार कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि यह नैसर्गिक अधिकार है जिनका उद्गम नैसर्गिक विधि के सिद्धान्तों से हुआ है। इस पर साधारणतया सभी विद्वान सहमत है कि नैसर्गिक अधिकार मानव में अंतनिर्हित होते है और राज्य उन्हे छीन नही सकता। मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा 1998 में यह घोषित किया गया है।

मानव परिवार के सभी सदस्यों की अंनिर्हित गरिमा और समान तथा अमैध अधिकार विष्व में स्वतंत्रता न्याय व शक्ति के आधार है–

संयुक्त राष्ट्र के लोगो ने चार्टर में मूल अधिकारो में अपने विष्वास की पुनः पुष्टि की है–– तथा अधिकाधिक स्वतंत्रता के साथ उत्कृष्ट जीवन स्तर की प्राप्ति का निर्णय किया है।

नैसर्गिक अधिकारों को अन्य अधिकारों से उच्चतर सम्मान दिया जाता है। उदाहरण के लिये संविदा पर आधारित अधिकारों से नैसर्गिक अधिकारों को सम्मान अधिक है। इसके पीछे कारण यह है कि नैसर्गिक अधिकारों की विद्वमानता किसी अधिनियम पर आधारित नही है।

भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता जनता के मूल अधिकारों की घोषणा है। संविधान के भाग 3 में इन अधिकारों का विषद् रूप से उल्लेख किया गया है। भारतीय संविधान में जितने विस्तृत एवं व्यापक रूप में इन अधिकरों का उल्लेख किया गया है उतना संसार के किसी भी लिखित संघात्मक संविधान में नहीं किया गया हैं मूल अधिकारों से सम्बन्धित उपबन्धों का समावेष आधुनिक लोकतांत्रिक विचारों की प्रवृत्ति के अनुकूल ही है। सभी आधुनिक संविधान में मूल अधिकारेां का उल्लेख है। इसलिए संविधान के मध्याय–3 को भारत का अधिकार पत्र (Magra Caita) कहा जाता है। इस अधिकार पत्र द्वारा ही अंग्रेजो ने सन् 1215 में इंग्लैण्ड के सम्राट जॉन से नागरिकों के मूल अधिाकरों की सुरक्षा प्राप्त की थी। यह अधिकार–पत्र मूल अधिकारों से सम्बन्धित प्रथम लिखित दस्तावेज है। दस्तावेज को मूल अधिकारों का जन्मदाता कहा जाता है। इसके पष्चात समय–समय पर

सम्राट ने अनेक अधिकारों को स्वीकृति प्रदान की। अन्त में 1689 में बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) नाम दस्तावेज लिखा गया। फ्रांस में सन् 1789 में जनता के मूल अधिकारेां की एक पृथक प्रलेख में घोषणा की गई, जिसे मानव एवं नागरिकों के अधिकार घोषणा–पत्र के नाम से जाना जाता है। इसमें उन अधिकारों को प्राकृतिक अप्रतिदेय (inalienable) और मनुष्य के प्रवित्र अधिकारों के संधर्ष का परिणाम है।

भारतीय संविधान की जब रचना की जा रही थी तो इन अधिकारों के बारे में एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार थी। इन सबसे प्रेरणा लेकर संविधान–निर्माताओं ने मूल अधिकारों को संविधान में समाविष्ट किया।

1.2.2. मूल अधिकार के अर्थ

वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिये मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, मूल अधिकार कहलाते हैं।

व्यक्ति के इन अधिकारेां को निम्न आधारों पर मूल अधिकार कहा जाता है। प्रथम, व्यक्ति के पूर्ण मानसिक, भौतिक और नैतिक विकास के लिये ये अधिकार बहुत आवष्यक है। इनके अभाव में उनके व्यक्तित्व का विकास रूक जाएगा। इसलिये लोकतंत्रात्मक राज्य में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकार प्रदान किये जाते है। इन अधिकारों को मूल अधिकार कहने का द्वितीय कारण यह है कि इन्हें देष की मूल विधि अर्थात् संविधान में स्थान दिया जाता है और साधारतया संवैधानिक संषोधन की प्रक्रिया के अलावा इनमें और किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता हैं गोपालन बनाम मद्रास राज्य के विवाद में मुख्य न्यायाधीष पांतजलि शास्त्री ने कहा था, ''मौलिक अधिकारों की मुख्य विशेषता यह है कि वे राज्य द्वारा पारित विधियेां से ऊपर है।''

तृतीय मूल अधिकार साधारणतया अनुल्लघनीय हैं आर्थात् व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या बहुतम दल द्वारा उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। चतुर्थ, मूल अधिकार न्याय–योग्य (Justeciable) होते हैं अर्थत् न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा के लिये सभी आवष्यक कदम उठा सकती है। मूल अधिकार की व्यवस्था भारतीय संविधान की सर्वाधिक प्रमुख विशेषताओं में से एक है।

1.2.3. भारतीय संविधान के अधिकार पत्र की विशेषताएँ

यद्यपि, मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में भारतीय संविधान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य संविधानों से प्रेरणा ली गई है, लेकिन भारतीय संविधान का अधिकार–पत्र अधिकारों और उनसे सम्बद्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में वैसा ही नही है। जैसा कि अन्य संविधानों के अधिकार –पत्र हैं। भारतीय संविधान के अधिकार–पत्र के प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1.2.3.1. सर्वाधिक विस्तृत अधिकार–पत्र – भारतीय संविधान का तृतीय भाग जिसमें मूल अधिकारों का विवेचन किया गया है,विष्व के अन्य किसी भी संविधान में दिये गये अधिकार–पत्र से विस्तृत है। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में कुल 23 अनुच्छेद (अनु. 12 से 30 और 32 से 35) हैं। और इनमें से कुछ तो आधारण रूप से लम्बे है। अधिकार–पत्र के इतने अधिक व्यापक होने का एक प्रमुख कारण यह रहा है कि प्रत्येक अधिकार के साथ प्रतिबन्धों की भी व्यवस्था की गई है। मूल अधिकारों के सम्बन्घ में पूर्ण और स्पष्ट व्यवस्था के प्रयास में ही अधिकार–पत्र इतना विस्तृत हो गया है।

1.2.3.2. मूल अधिकार सीमित है, निरंकुष नहीं– भारतीय संविधान द्वारा प्रदान किये गये मूल अधिकार असीमित नहीं हैं, वरन् संविधान द्वारा वे प्रतिबन्धित भी है। इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान एवं अमरीकी संविधान में अन्तर यह है कि अमरीकी संविधान में मूल अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लाये गये हैं, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने पुलिस शक्ति (Police force) के सिद्धान्त के आधार पर राज्य को सामान्य हित में मूल अधिकारों पर आवष्यक व उचित नियंत्रण लगाने की शक्ति दे दी है।

1.2.3.3. मूल अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था :– भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार पूर्ण वैधानिक अधिकार हैं और संविधान ने न्यायालयों को आज्ञा दी है कि वे देखें कि नागरिकों के मोलिक अधिकारों का हनन न होने पावे। संविधान के अनु. 32 के अन्तर्गत नागरिक अपने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों की शरण ले सकता हे और न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के ऐसे सभी कानूनों और कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देगी, जो मौलिक अधिकारों को अनुचित रूप से प्रतिबन्धित करते हों।

1.2.3.4. प्राकृतिक या अगणित अधिकारों के लिये कोई स्थान नहीं :– भारतीय संविधान केवल उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करता है जिनका वर्णन संविधान के तीसरे भाग में किया गया है। इस सम्बन्ध में अमरीकी संविधान, की स्थिति भिन्न है। अमेरीका के सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह संविधान में वर्णित अधिकारों के अलावा भी मानव जीवन के लिये आवष्यक समझे जाने वाले अन्य अधिकारों को लागू करा सकता है। वहीं, भारतीय संविधान में अगणित अधिकारों के लिये स्थान नहीं है और सर्वोच्च न्यायालय संविधान में उल्लिखित अधिकारों के अलावा अन्य अधिकारों को लागू करने की कार्यवाही नहीं कर सकता।

1.2.4. संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

भारतीय संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को 7 मूल अधिकार प्रदान किये गये थे, किन्तु 44वें संवैधानिक संषोधन (1979) द्वारा सम्पत्ति को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी–अधिकार के रूप में है। परिणामतया मूल अधिकारों की संख्या 6 हो गई थी। दिसम्बर 2002 ई. में 86 में संवैधानिक संषोधन के आधार पर देष के 6–14 वर्ष आयु के सभी

बच्चों को निःषुल्क प्राथमिक षिक्षा का मूल अधिकार प्रदान किया गया है, अतः अब पुनः मूल अधिकारों की संख्या 7 हो गयी है।

- समानता का अधिकार
- स्तंत्रता का अधिकार
- शोषण के विरूद्ध अधिकार
- धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
- संस्कृति तथा षिक्षा सम्बन्धी अधिकार
- संवैधानिक उपचारों का अधिकार
- षिक्षा (निःषुल्क प्राथमिक) का अधिकार

1.2.4.1. समानता का अधिकार 14 अनु.– 18)– समानता का अधिकार प्रजातंत्र का आधार–स्तम्भ है, अतः भारतीय संविधान द्वारा सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समानता, राज्य के अधीन नौकरियों का समान अवसर और सामाजिक समानता प्रदान की गई है।

1.2.4.2. विधि के समक्ष समता अथवा विधियों के समान संरक्षण का अधिकार (अनु. 14):– अनु. 14 यह उपबन्धित करता है कि ''भारत राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता के अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा।'' 'कानून के समक्ष समानता' ब्रिटिष सामान्य विधि की देन है और इसके द्वारा राज्य पर बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिये एक–सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा।' कानून का समान संरक्षण', यह वाक्य अमरीकी संविधान से लिया गया है और इसका तात्पर्य यह है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिये प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है।

कानून द्वारा मान्य एवं औचित्यपूर्ण आधार पर भेदभाव की व्यवस्था की जा सकती है– जैसे कर लगाने के सम्बन्ध में घनी व गरीब के मध्य अन्तर।

1.2.4.3. धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनु. 15)– कानून के समक्ष समानता के साथ–साथ अनु. 15 में कहा गया है कि राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंष, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में भेद–भाव नहीं किया जाएगा। कानून के द्वारा निष्चित किया गया कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों और सार्वजनिक स्थानों में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

1.2.4.4. राज्य के अधीन नौकरियों का समान अवसर (अनु. 16)– अनु. 16 के अनुसार– ''सब नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूलवंष, जाति लिंग या जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाएगा''। इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार है वह राजकीय सेवाओं के लिये

आवष्यक योग्यताएॅ निर्धारित कर दें। सेवा में पिछडे वर्गों के लिये भी स्थान आरक्षित किए जा सकते हैं।

1.2.4.5. अस्पृष्यता का निषेध (अनु. 17) – अनु. 17 में कहा गया है कि, 'अस्पृष्यता का अन्त किया जाता है। और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृष्यता से उत्पन्न किसी योग्यता को लागू करना एक दण्डनीय अपराध होगा।'' अस्पृष्यता अपराध अधिनियम, पारित किया गया है जो पूरे भारत में लागू होता है। 1976 में संषोधित कर इसका नाम 'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1956 कर दिया गया। 1989 में इसे ' अनुसूचित जाति व जन जाति निरोधक कानून 89' का नाम दे दिया गया।

1.2.4.6. उपाधियों का निषेध (अनू. 18)– अनु. 18 में व्यवस्था की गई है कि 'सेना अथवा विद्या सम्बन्धी उपाधियों के अलावा राज्य अन्य कोई उपाधियां प्रदान नहीं कर सकता'। अनु. 18 की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद भारत में 1950 से ही भारत सरकार द्वारा भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण, और पद्म श्री की उपाधियां प्रदान की जाती रही है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में कहा है कि 'उपाधियॉ प्रदान करने की यह व्यवस्था संविधान के प्रतिकूल नहीं हैं लेकिन इस सम्बन्ध में शासन का समस्त कार्य विवेक संगत रूप में और उचित मापदण्डों पर आधारित होना चाहिये।

1.2.4.7. स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 19–22):– मूल संविधान के अनु. 19 द्वारा नागरिकों को 7 स्वतंत्रताएॅ प्रदान की गई थी। 44वे संवैधानिक संषोधन द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार के साथ–साथ' 'सम्पत्ति की स्वतंत्रता' भी समाप्त कर दी गई है।

1.2.4.7.1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता – भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने की और अपने तथा अन्य व्यक्तियेां के विचारों के प्रचार की स्वतंत्रता प्राप्त है। इसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है।

1.2.4.7.2. अस्त्र–षस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन की स्वतंत्रता– व्यक्तियेां के द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिये शान्तिपूर्वक और बिना किन्हीं शस्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है, तथा उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्षन का आयोजन भी किया जा सकता है।

1.2.4.7.3. समुदाय और संघ के निर्माण की स्वतंत्रता – संविधान के द्वारा सभी नागरिकों को समुदायों और संघ के निर्माण की स्वतंत्रता प्रदान की गई है, परन्तु इस स्वतंत्रा की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नही कर सकता जो शान्ति व्यवस्था को भंग करें।

1.2.4.7.4. भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता :– संविधान ने सभी नागरिकों को वृति, उपजीविका, व्यापार अथवा व्यवसाय की स्वतंत्रता प्रदान की है,

किन्तु राज्य जनता के हित में इन स्वतंत्रताओं पर उचित प्रतिबंध लगा सकता है। राज्य किन्ही व्यवसायों को करने के लिये आवष्यक योग्यताएँ निर्धारित कर सकता है अथवा किसी करोबार। उद्योग का पूर्ण अथवा आंषिक रूप से स्व्यं अपने हाथ में ले सकता है।

1.2.4.7.5. स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध– इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदान की गई उपर्युक्त स्वतंत्रताएँ असीमित नहीं है, इनमें से प्रत्येक पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

1.2.4.7.6. अपराध की दोष सिद्धि के विषय में संरक्षण (अनु. 20) – अनु. 20 के अनुसार ''किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।'' इसके साथ ही एक उपराध के लिये व्यक्ति को एक ही बार दण्ड दिया जा सकता है और किसी अपराध में अभियुक्त व्यकित को स्वयं अपने विरूद्ध गवाही देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

1.2.4.7.7. व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन की सुरक्षा (अनु. 21) – अनुच्छेद 22 में जीवन के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है। इसमें कहा गया है कि ''व्यक्ति को अपने जीवन तथा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रतिक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के वंचित नहीं किया जा सकता।'' आपातकाल में भी जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

1.2.4.7.8. बन्दीकरण की अवस्था में संरक्षण (अनु. 22) :– अनु. 22 के अनुसार बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्ति को उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बतलाए बिना व्यकित को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रखा जाएगा। उसे वकील से परामर्ष करने का अधिकार होगा और बन्दी बनाए जाने के बाद 24 घण्टे के अन्दर–अन्दर, उसे निकटतम न्यायाधीष के सामने उपस्थिति किया जाएगा।

ये अधिकार दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंग। प्रथम शत्रु देष के निवासियों पर और द्वितीय निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।

1.2.4.7.9. निवारक निरोध :– निवारक निरोध का तात्पर्य वास्तव में किसी प्रकार का अपराध किये जाने से पूर्व और बिना किसी प्रकार की न्यायिक प्रक्रिया के ही नजरबन्दी है। निवारक निरोध का उद्देश्य व्यक्ति को अपराध के लिये दण्ड देना नही, वरन् उसे अपराध से रोकना है। अनुच्छेद 22′ के खण्ड 4 में निवारक निरोध की चर्चा की गई है।

1.2.4.7.10. सामान्य काल और संकट काल दोनों मं लागू :– निवारक निरोध के सम्बन्ध में विषेष बात यह है कि भारतीय संविधान के अनुसार निवारक निरोध

सामान्य काल तथा संकट काल दोनों में लागू होगा। विष्व में अन्य किसी प्रजातंत्रात्मक राज्य में ऐसी व्यवस्था नहीं पाई जाती हैं निवारक निरोध की व्यवस्था के अनतर्गत केन्द्र सरकार द्वारा बनाये गये प्रमुख अधिनियम हैं–

1) निवारक नजरबन्दी अधिनियम (1950 से 1969 तक लागू)
2) आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम या मीसा MISA (1971 से अप्रैल 79)
3) राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (1981 से लागू),
4) आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधियॉ निरोध कानून (टाडा– TADA) (1985 से 95 तक लागू),
5) आतंकवाद निरोधक कानून– 2002 (POTA)

1.2.4.7.11. निवारक निरोध अनिधिम :– 1950 अनु. 4,5 और 6 के अन्तर्गत निवारक निरोध का जो उल्लेख किया गया है, इसके अन्तर्गत संसद के द्वारा 1950 ई. में निवारक नजरबन्दी अधिनियिम पारित किया गया। समय समय पर इस अधिनियम की अवधि बढ़ाई जाती रही और यह अधि. 31 दिसम्बर, 1969 तक चला।

1.2.4.7.12. आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम, 1971:– (Maintenance of Internal Security Act MISA) मीसा की व्यवस्था निवारक निरोध अधिनियम से भी कठोर थी। मीसा के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि एक व्यक्ति को परामर्षदाता मण्डल से सलाह प्राप्त किये बिना संकट–काल की अवधि में अधिक से अधिक 21 माह तक नजरबन्द रख जा सकता है। मीसा के अनतर्गत ऐसे किसी भी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता था, जो भारत की प्रतिरक्षा, सुरक्षा, समाज के सुरक्षा के विरूद्ध कार्यवाही करता है।

44वें संवैधानिक संषोधन द्वारा ऐसे कुछ सम्बन्ध किये गए जिससे शासक वर्ग द्वारा निवारक निरोध कानून की व्यवस्थाओं का दुरूपयोग न किया जा सके। 1971 में जारी किया गया आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, (मीसा) 44वें संवैधानिक संषोधन के प्रतिकूल था और इस कारण अप्रैल 1973 में यह स्वतः ही रद हो गया।

1.2.4.7.13. राष्ट्रीय सुरक्षा कानून :– जनवरी, 1980 में सत्ता परिवर्तन के बाद केन्द्र में स्थापित इन्दिरा कांग्रेस सरकार द्वारा 22 दिसम्बर 1980 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेष' जारी किया गया। घोषणा की गई की यह अध्यादेष जम्मू–कष्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के अन्य सभी राज्यों पर लागू होगा। फरवरी 1981 में इस अध्यादेष को कानून का रूप प्रदान कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 22 जून, 84 को 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (दूसरा संषोधन) अध्यादेष, 1984 जारी किया गया। जिसके द्वारा 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की व्यवस्थाओं में कुछ परिवर्तन करते हुए इसे और कठोर बना दिया गया।

1.2.4.7.14. टाडा का समाप्ति :– संविधान में की गई निवारक निरोधक व्यवस्था के अन्तर्गत अब तक जो कानून बने, उनमें सबसे अधिक प्रभावी और सर्वाधिक कठोर कानून था, 'आतंकवादी एवं विध्वंसकारी गतिविधियां निरोध कानून' (टाडा)। विविध पक्षों द्वारा अनुभव किया गया कि कुछ राज्य सरकारों द्वारा 'टाडा' के प्रावधानों का दुरूपयोग किया जा रहा है, अतः लगभग एक दषक से लागू इस कानून की अवधि 25 मई 95 के बाद नहीं बढ़ाई गई तथा इस प्रकार वर्तमान में 'टाडा' लागू नहीं हैं।

1.2.4.7.15. आतंकवाद निरोधक कानून (पोटा) मार्च, 2002 :– अक्टूबर 2001 ई. में आतंकवाद निरोधक अध्यादेष पोटा जारी किया गया तथा मार्च 2002 ई. में इसे कानून का रूप प्राप्त हुआ। इस कानून में व्यवस्था की गई है कि यदि कोई व्यक्ति किसी आतंकवादी संगठन का सदस्य हो, आतंकवादी संगठन से मदद लेता हो, या आतंकवादी संगठन के उपयोग के लिये किसी को धन देता हो, तो उसे कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया जा सकता है। अपराध सिद्ध होने पर उसे अधिकतम 14 वर्ष की जेल तथा/ या जुर्माना की सजा होगी।

'पोटा' को 'टाडा का मुलायम संस्करण' कहा गया है इसके अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्ति को स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के 'टाडा' की तुलना में अधिक अवसर प्राप्त है। मार्च, 2003 ई. में न्यायमूर्ति अरूण सहाय की अध्यक्षता में एक पैनल बनाया गया। यह पैनल विभिन्न राज्यों में 'पोटा' की कमियां दूर करने के लिये सुझाव देगा।

1.2.4.7.16. शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनु. 23 और 24) :– अनु. 23 के द्वारा बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है जिसका उल्लघंन विधि के अनुसार उण्डनीय अपराध है। भारत में सदियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान थी, जिसके अनुसार हरिजनों, खेतिहर, श्रमिकों तथा स्त्रियों पर विभिन्न प्रकार के अनाचार किये जाते थे। संविधान के अन्तर्गत मानवीय शोषण के इन सभी रूपों को कानून के अनुसार दण्डनीय घोषित कर दिया गया है।

1.2.4.7.17. बाल श्रम का निषेध (अनु. 24) :– अनु. 24 में कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। भारत के विभिन्न भागों में शोषण का एक रूप बंधुआ मजदूरी के रूप में प्रचलित था, जिसे समाप्त करने के लिये 1975–76 में कुछ कदम उठाए गए। 1996–97 में न्यायालयों में बाल श्रम के निषेध पर बल दिया अतः प्रषासन बाल श्रम की स्थिति समाप्त करने के लिये प्रयत्नषील है।

1.2.4.7.18. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 25 – 28) :– भारतीय संविधान में अनु. 25 से 28 तक धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान किया गया है।

1.2.4.7.19. अन्तःकरण की स्वतंत्रता :– अनुच्छेद 25 में कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अन्तः करण की स्वतंत्रता तथा कोई भी धर्म अंगीकार करने उसका अनुचरण एवं प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा।

1.2.4.7.20. धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतंत्रता :– अनु. 26 प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को अग्रलिखित अधिकार प्रदान करता हैः–

- धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थाओं की स्थापना तथा उनके पोषण का अधिकार।
- धर्म सम्बन्धी निजी मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार।
- चल व अचल सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।
- उस सम्पत्ति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार।

1.2.4.7.21. धार्मिक व्यय के लिये निष्चित धन पर कर की अदायगी की छूट :– अनु. 27 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिये बाध्य नही कर सकता है, जिसकी आय किसी विषेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के उन्नति या पोंषण में व्यय करने के लिये विषेष रूप से निष्चित कर दी गई हो।

1.2.4.7.22. राजकीय षिक्षण संस्थाओं में धार्मिक षिक्षा निषिद्ध :– भारत राज्य का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का है। जिसे धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनु. 28 में कहा गया है कि '' राजकीय निधि से संचालित किसी भी षिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक षिक्षा प्रदान नहीं की जाएगा। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त षिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विषेष की षिक्षा ग्रहण करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकेगा।''

किन्तु राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य इत्यादि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इस प्रकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उचित प्रतिबन्धों के साथ संविधान के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों के लिए धार्मिक स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई है।

1.2.4.7.23. संस्कृति और षिक्षा सम्बन्धी अधिकार :– अनु. 29 के अनुसार, ''नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।'' यह भी कह दिया गया है कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित षिक्षण संस्था में प्रवेष के सम्बन्ध में मूलवंष, जाति, धर्म तथा भाषा या इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नही किया जाएगा।

1.2.4.7.24. शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना का अधिकार – अनु. 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रूचि की शैक्षणिक संस्थानों की संस्थापना तथा उनके प्रषासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था

की गई है कि षिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन हैं।

1.2.4.7.25. संवैधानिक उपचारों का अधिकारः– (अनु. 32) संविधान निमार्ताओं ने संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि नागरिक अधिकारों को लागू करने के लिये सर्वोच्च न्यायालय या उच्च–न्यायालयों की शरण ले सकते है। संवैधानिक उपचारेां के अधिकारेां की व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए डा. अम्बेडकर ने कहा था, ''यदि मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन सा अनुच्छेद है जिसक बिना संविधान शून्य प्राय हो जाएगा, तो यह इस अनुच्छेद (32) को छोड़कर में किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय तथा आत्मा है।

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किए गए हैं।–

1.2.5. बन्दी प्रत्यक्षीकरण

इसके द्वारा न्यायालय बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेष देता है कि वह बन्दी बनाए गए व्यक्ति को निष्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बन्दी बनाए जानें के कारणेां पर विचार कर सके दोनेां पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैद्य है या अवैद्य, और यदि अवैघ होती है तो न्यायालय बन्दी का फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता हैं।

1. **परमोदष :** 'परमादेष का लेख उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता। इस प्रकार के आज्ञापत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्त्तव्य का पालन करने का आदेष दिया जाता है।
2. **प्रतिषेघ :–** यह आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा निम्न–न्यायालयों तथा अर्ध–यायिक न्याधिकरणों को जारी करते हुए आदेष दिया जाता है कि इस मामले में अपने यहॉ कार्यवाही न करे, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर ळें
3. **उत्पेषण :–** यह आज्ञापत्र अधिकांषतः किसी विवाद को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में भेजने के लिये जारी किया जाता है जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपयोग न कर सके या अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते हुए न्याय के प्राकृतिक सिद्वान्तों को भंग न करें।
4. **अधिकार पृच्छा :–** जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार –पृच्छा के आदेष द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पर पर कार्य कर रहा है, और जब तक वह इस प्रष्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

युद्ध बाहरी आक्रमण या सषस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थिति में संकटकाल की घोषणा कर दी गई हो तो नागरिकों के मौलिक अधिकारों (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को छोड़कर) को स्थगित करने की व्यवस्था की गई है।
षिक्षा (प्रारम्भिक षिक्षा) का मूल अधिकार (दिसम्बर 2002) :– 86वें संवैधानिक संषोधन (दिसम्बर 2002) के आधार पर अब अनुच्छेद 21 के बाद एक नया अनुच्छेद 21 ए के रूप में जोड़ दिया गया है, जिसके अनुसार 'राज्य' से लेकर 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य एवं निःषुल्क षिक्षा देने को बाध्य होगा' तथा इसे कार्य रूप में परिणत करने के लिये कानून बनाकर व्यवस्था की जाएगी।

1.2.6. मूल अधिकारों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान में वर्णित मूल आधिकारों की विभिन्न आधारों पर निन्दा की गई है, जो निम्नवत है।

सर्वप्रथम, निन्दा का विषय यह बना कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है जिन्हें मूल अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी में काम करने का अधिकार, कुछ परिस्थितियों में राज्य से साहयता प्राप्त करने का अधिकार, आवास का अधिकार, सूचना प्राप्त करने का अधिकार, आदि को रखा जा सकता है।

लेकिन अलोचक वह भूल जाते हैं कि किसी भी देष के संविधान द्वारा देष में विद्यमान साधनों के आधार पर ही अधिकार प्रदान किये जा सकते हैं। वस्तुतः इन अधिकारों को प्राप्ति केवल संवैधानिक प्रावधानों पर नहीं वरन् समस्त देष की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।

द्वितीय आलोचकों का कथन है कि भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों के साथ इतने अधिक अपवाद और प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं कि वह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मूल अधिकारों से क्या मिला? इस समबन्ध में भूतपूर्व न्यायाधीष छागला अपनी पुस्तक Law, Liberty and Life में लिखते हैं कि '' यह कहा जाता है कि हमारा संविधान एक हाथ से अधिकार प्रदान करता है और दूसरे हाथ से असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धेां के माध्यम से अधिकारेां को सीमित कर इन्हें वापस ले लेता है। मेरे विचार से यह आलोचना उचित नहीं है। भारतीय संविधान के द्वारा असंख्य अपवादों और प्रतिबन्धेां के माध्यम से मूल अधिकारों को सीमित कर दिया गया है, परन्तु संविधान के द्वारा इस प्रकार के प्रतिबन्धेां के औचित्य के निर्णय की षक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं, वरन् न्यायपालिका को सौंपी गई है और न्यायपालिका के स्वतंत्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिये न्यायपालिका पर भरोसा कर सकते हैं।

तृतीयतः संविधान के द्वारा संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका को मूल अधिकारेां के स्थगन का जो अधिकार दिया गया है, और संकटकाल के अतिरिक्त सामान्य परिस्थतियों में भी निवारक निरोध की जो व्यवस्था की गई है, वह कटु आलोचना का विषय रही हैं। लेकिन संविधान की इन व्यवस्थाओं को

अध्ययन करते हुए इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की सुरक्षा से कहीं अधिक मूल्यवान है। शासन को मूल अधिकारेां के अतिक्रमण का अधिकार मात्र आकस्मिक परिस्थिति में ही प्राप्त होता है और ऐसी परस्थिति अल्पकालिक ही होती है।

मूल अधिकारेां के स्थगन की व्यवस्था कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में आवष्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से आवष्यकता से अधिक सावधानी बरती गई है। ऐसी स्थिति में मानवीय स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियेां और न्यायालयों द्वारा पर्याप्त सजगता का परिचय दिया जाना चाहिए।

1.2.7. मूल कर्त्तव्य

1950 में लागू किये गये भारतीय संविधन में नागरिकों के केवल अधिकारेां का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्त्तव्यों का नहीं। लेकिन 1976 में संविधान में व्यापक संषोधन करते समय यह अनुभव किया गया कि संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अतः संविधान के चतुर्थ भाग के बाद भाग 'चतुर्थ अ' जोड़ा गया, जिसमें मूल कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गई है। ये 10 मूल कर्त्तव्य इस प्रकार हैं।

1.2.7.1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्षों, संस्थाओं व राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान :– संविधान का पालन करना और उसके आदर्षों, संस्थाओं, राष्ट्रघ्वज व राष्ट्रगान का आदर करना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा।

1.2.7.2. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्षों का पालन :– स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्षों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा।

1.2.7.3. भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा :– प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाये, रखे।

1.2.7.4. देष की रक्षा और राष्ट्र सेवा :– प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह देष की रक्षा करे और बुलाये जाने पर राष्ट्र की सेवा करें।

1.2.7.5. भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास :– इसमें दो प्रकार के कर्त्तव्यों का मुख्य रूप से बोध कराया गया है।–

- समस्त भारतीयों के मध्य समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास,
- स्त्रियों का सम्मान करना।

1.2.7.6. समन्वित संस्कृति की गौरवषाली परम्परा की रक्षा :– हमारी समन्वित संस्कृति की गौरवषाली परम्परा का महत्व समझे और संरक्षण करें।

1.2.7.7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव :– प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव भी हैं, रक्षा करे और उनका सम्बर्द्धन करे तथा प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखे।

1.2.7.8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास :– प्रत्येक नागरिक यक कर्त्तव्य होगा कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें।

1.2.7.9. सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा व हिंसा से दूर रहना :– प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे व हिंसा से दूर रहे।

1.2.7.10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास :– यह भारत के प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होगा कि वह व्यक्तिगत व सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रगति और उपलब्धि की नवीन ऊचाइंयों का छू सके।

1.2.8. आलोचना

मूल कर्त्तव्यों की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है।

1.2.8.1. कर्त्तव्य के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था नहीं :– भारतीय संविधान के मूल कर्त्तव्यों का उल्लंघन किये जाने पर देष की व्यवस्था नहीं है, ऐसी स्थिति में इस बात पर कैसे विष्वास किया, जाए कि नागरिक इन मूल कर्त्तव्यों का पालन अवष्यक करेंगे ही। जबकि अनेक देषों के संविधान में यह व्यवस्था पाई जाती है कि मूल कर्त्तव्यों के पालन ना करने पर नागरिकों को मूल अधिकारों से तथा नागरिका से भी वंचित किया जा सकता।

1.2.8.2. भाषा की अस्पष्टता :– संविधान में वर्णित मूल कर्त्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। उदाहरणतयः वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, सुधार की भावना का विकास और सभी क्षेत्रों में उत्कृष्टता के प्रयास, इत्यादि बातों का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकाला जा सकता है।

1.2.8.3. अत्यधिक आदर्षवादी :– अनेक मूल कर्त्तव्य व्यावहारिक नहीं अपितु अत्यधिक आदर्षवादी प्रकृति के हैं। उदाहरण के लिये – समन्वित संस्कृति की गौरवषाली परम्परा का रक्षा, मानवाद एवं ज्ञानार्जन का विकास, इत्यादि।

शासन के अत्याधर की आषंका :– मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख करने में जिस शब्दावली को अपनाया गया है, उसकी आड़ में शासन जनता पर अत्याचार कर सकता है। उदाहरण के लिए भारत की सम्प्रभुता के नाम पर शासन की सम्प्रभुता स्थापित करने की प्रयास किया जा सकता है।

1.2.9. सारांष

व्यक्ति और राज्य के आपसी सम्बन्धों की समस्या सदैव से ही बहुत अधिक जटिल रही है और र्तमान समय की प्रजातंत्रीय व्यवस्था में इस समस्या ने विषेष महत्व प्रापत कर दिया है। यदि एक ओर शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिये नागरिकों के जीवन पर राज्य का नियंत्रण, आवष्यक है तो दूसरी ओर राज्य की शक्ति पर भी कुछ ऐसी सीमाएं लगा देना आवष्यक है जिससे राज्य मानमाने तरीके से

आचरण करते हुए व्यक्तियों की स्वतंत्रता और अधिकारों के विरूद्ध कार्य न कर सके। मूल अधिकर व्यक्ति स्वातंत्रत और अधिकारों के हित में राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के श्रेष्ठ उपाय हैं।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने विष्व को 'स्वतंत्रता, समानता ओर भ्रातृत्व' का सन्देष दिया था। क्रान्ति के उपरान्त फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने 1789 के नवीन संविधान में 'मानवीय अधिकारेां की घोषण' (Declaration of the Rights of Man) को शामिल करके नागरिकों के कुछ अधिकारों को संवैधानिक रूप देने की प्रथा प्रारम्भ की। इसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान ने 1971 में दस सषांधनों द्वारा व्यक्तियों के अधिकारेां को संविधान का अंग बनाया गयां ये संषोधन सामूहिक रूप में 'अधिकार–पत्र' (Bill fo Rights) कहलाए। प्रथम महायुद्ध के बाद अनेक पुराने राज्यों और युद्ध के बाद सथापित अनेक नवीन राज्यों के संविधानों में मूल अधिकारों का समावेष किया गया। द्वितीय महायुद्ध के काल में मूल अधिकार का विचार और भी लोकप्रिय हुआ और युद्ध के बाद भारत, वर्मा, जापान आदि जिन देषों के संविधान का निर्माण हुआ। उन सभी के मूल अधिकारों का समावेष किया गया।

मूल अधिकार प्रजातंत्र के आधार स्तम्भ हैं। वे उन परिस्थितियों का निर्माण करते हैं, जिनके आधार पर बहुमत की इच्छा निर्मित और क्रियान्वित होती हैं। श्री. जी. एन. जोषी इस सम्बन्ध में लिखते है। ''एक स्वतंत्र प्रजातन्त्रात्मक देष में मूल अधिकार सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक जीवन में प्रभावदायक उपभोग के एकमात्र साधन हैं।''

यह सर्वविदित एवं सर्वमान्य है कि कर्त्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपभोग सम्भव नहीं है। हमारे संविधान निर्माताओं ने सोचा था कि भारतीय नागरिक राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्च आदर्षों से प्रेरित है, अतः उनमें कर्त्तव्य बोध सदैव ही जगा रहेगा और वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। लेकिन छठें सातवें दषक में देखा गया कि नागरिकों का दायित्व बोध कमजोर पड़ने लगा है। अतः संविधान में मूल कर्त्तव्यों का उल्लेख करने की आवष्यकता समझी गई।

वस्तुतः केवल कुछ ही कर्त्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। अधिकांष कर्त्तव्यों की भाषाऔर भाव नितान्त स्पष्ट तथा उनका महत्व स्वयं सिद्ध है। भारत जैसे बहुधर्मी और बहुभाषी समाज में कर्त्तव्यों का एक विषिष्ट स्थान व उपयोगिता है। संविधान में नागरिक कर्त्तव्यों के उल्लेख से यह आषा की गई है कि भारतीय नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों का अधिक स्पष्ट रूप से बोध हो और वे अधिक अच्छे रूप से इनका पालन कर सकेंगे। उन कर्त्तव्येां की अवहेलना की जाने पर अभी तक किसी प्रकार की दण्ड व्यवस्था नहीं की गई है, लेकिन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। इन कर्त्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा सर्वोच्च धर्म समझा जाना चाहिए।

1.2.10. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1) मूल अधिकारों से आप क्या समझते है?
2) भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों का विस्तार में वर्णन कीजिए।
3) मौलिक कर्त्तव्य क्या है? इनकी किस प्रकार से आलोचना की गई है?
4) भारतीय संविधान के अन्तर्गत 'निवारक निरोध' और मीसा पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
5) मूल अधिकार एवं मौलिक कर्त्तव्यों की उपयागिता पर प्रकाष डालिए।

1.2.11. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1) मूल अधिकार कौन–कौन से हैं।
2) मौलिक कर्त्तव्यों को समझाइयें।
3) भारतीय संविधान का अधिकार पत्र।
4) निवारक निरोध क्या है?
5) वैधानिक उपचारों के अधिकार कौन से हैं।

1.2.12. बहुविकल्पीय प्रष्न –

1. मूल अधिकार कितने हैं?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) सात (घ) छः

2. कौन सा मूल अधिकार नही है।
   (क) सम्पत्ति का अधिकार (ख) स्वतंत्रता का अधिकार
   (ग) समानता का अधिकार (घ) संवैधानिक उपचारों का अधिकार

3. मूल कर्त्तव्य कितने हैं?
   (क) पॉच (ख) सात
   (ग) आठ (घ) दस

4. मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिये कितने प्रकार के लेख हैं?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) पॉच (घ) सात

5. अस्पृष्यता का निषेध किस मूल अधिकार में हैं?
   (क) अनु. 17 (ख) अनु. 18
   (ग) अनु. 19 (घ) अनु. 20

1.2.13. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिषचन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

इकाई –3 नीति निर्देषक सिद्धान्त राज्य के नीति निदेषक तत्व

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. नीति निदेषक सिद्धान्तों का इतिहास
1.3.3. नीति दिेषक तत्वों मे अर्न्तनिहित उद्देश्य
1.3.4. नीति निदेषक सिद्धान्तों का वर्गीकरण
1.3.4.1 आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धित सिद्धान्त
1.3.4.2. सामाजिक हित सम्बन्धी निदेषक सिद्धान्त
1.3.4.3. न्याय षिक्षा प्रजातन्त्र और प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा से सम्बन्धित निदेषक सिद्धान्त
1.3.4.4. अर्न्तराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त
1.3.5. मूल अधिकार एवं निदेषक सिद्धान्तों में सम्बन्ध
1.3.5.1. मूल अधिकार एवं नीति निदेषक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक
1.3.5.2. मूल अधिकार और नीति निदेषक सिद्धान्तों में अन्तर
1.3.6. नीति निदेषक सिद्धान्तों की आलोचना
1.3.7. उपसंहार
1.3.8. दीर्ध उत्तरीय प्रष्न
1.3.9. लघु उत्तरीय प्रष्न
1.3.10. बहु विकल्पीय प्रष्न
1.3.11. सन्दर्भ सूची

1.2.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप राज्य के नीति निदेषक सिद्धान्त का अर्थ एवं इतिहास जान सकेगें। साथ ही नीति निदेषक सिद्धान्त के प्रकार एवं मूल अधिकारों से नीति निदेषक सिद्धान्तों के मध्य सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

1.3.1. प्रस्तावना

संविधान के भाग 4 में उल्लिखित राज्य की नीति के निदेषक तत्व आयलैण्ड के संविधान से लिये गये हैं। नीति –निदेषक तत्वों में वे उद्देश्य एवं लक्ष्य निहित हैं जिनका पालन करना राज्य का कर्त्तव्य है। संविधान की प्रस्तावना में परिकल्पित 'लोक हितकारी राज्य' एवं 'समाजवादी समाज' की स्थापना का आदर्ष तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि सरकार नीति निदेषक तत्वों को लागू करने का प्रयत्न करें।

एक समय था जब राज्य का कर्त्तव्य समाज में केवल शान्ति व्यवस्था बनाये रखना और जनता के प्राण, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति तक ही सीतिम माना जाता था। अब उक्त धारणा में आमूल परिवर्तन हो चुका है। आज हम एक कल्याणकारी राज्य

के नागरिक है। जिसका कर्त्तव्य जन साधारण के सुख एवं समृद्धि की अभिवृद्धि करना है। इसी उद्देश्य से नीति–निदेषक सिद्धान्तों में कुछ आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को निहित किया गया है, जिनका पालन राज्यों को करना अभीष्ट है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि जनता के हित और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये इनको यथाषक्ति कार्यान्वित करने का प्रयास करे।

इन निदेषक तत्वों की प्रकृति और स्वरूप के सम्बन्ध में अनुच्छेद 37 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ''इस भाग (4) में दिये गये उपबन्धों को किसी भी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकेगी। किन्तु तो भी इसमें दिये हुए तत्व देष के शासन में मूलभूत हैं और विधि निर्माण में इन तत्वों को प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।'' डॉ. अम्बेडकर ने इन तत्वों के सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा था, ''राज्य नीति के निदेषक तत्व मानों। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन गर्वनर जनरल और गर्वनरों के नाम आदेष है। अन्तर केवल इतना है कि 1935 के अधिनियम के अधीन आदेष कार्यपालिका को आदेष होते थे, जबकि निदेषक तत्व राज्य के नाम आदेष हैं।'' इसीलिये हमारे राज्य नीति के निदेषक तत्व कार्यपालिका के साथ–साथ विधानमण्डलों को प्रभावित करेंगे। इन तत्वों की प्रकृति का स्पष्ट करते हुए श्री जी. एन. जोषी अपनी पुस्तक 'भारत का संविधान' में लिखते हैं 'इन निदेषक तत्वों का विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन कानूनों को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। ये तत्व उस नीति की ओर संकेत करते हैं जिसका अनुसरण संघ और राज्यों को करना चाहिए। 'नागरिक के प्रति राज्य के सकारात्मक दायित्व' कहा जा सकता है।

1.3.2. नीति निदेषक सिद्धान्तों का इतिहास

मूल अधिकार और निदेषक तत्वों का एक ही उद्भव है। 1928 के नेहरू प्रतिवदेन में जिसमें भारत के लिए स्वराजी विधान बनाया गया था जिसमें मूल अधिकारों को स्थान दिया गया था। 1945 के सप्रू प्रतिवेदन में मूल अधिकारों को स्पष्ट रूप से दो भागों में बॉटा गया था– न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय और अप्रवर्तनीय। संविधान सभा के संविधानिक सलाहकार सर वी. उन. राव के यह सलाह दी थी कि व्यक्तियेां के अधिकारेां को दो प्रवर्गों में विभाजित किया जाए। वे जिन्हें न्यायालय द्वारा प्रवृत्त कराया जा सकता है और वे जो इस प्रकार प्रवृत्त नहीं कराए जा सके। उनका सुझाव प्रारूप समिति ने भी स्वीकार किया। इसके परिणामस्वरूप न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय मूल अधिकार भाग–3 में हैं और निदेषक तत्व जो अप्रवर्तनीय हैं भाग–4 में है।

इन दोनों का उद्देश्य सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा व्यक्ति की गरिमा और कल्याण की प्राप्ति है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने आयरलैण्ड के संविधान के नमूने का अनुसारण किया। आयरलैण्ड के संविधान में राज्य के मार्गदष्रन के लिये सामाजिक नीति के सिद्धानत उल्लिखित हैं किन्तु कोई भी न्यायालय उनका संज्ञान नहीं ले सकता।

1.3.3. नीति–निदेषक तत्वों में अर्न्तनिहित उद्देश्य – नीति–निदेषक तत्वों में वे आदर्ष निहित है जिनको प्रत्येक सरकार अपनी नीतियों के निर्धारण और कानून बनाने में सदैव ध्यान में रखेगी। इसमें वे आर्थिक, सामाजिक और प्रषासनिक सिद्धान्त अन्तर्निहित है जो भारत की विषिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल हैं। डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा है कि ''ये भारतीय संविधान की 'अनोखी विशेषताएँ' हैं। इनमें एक एक कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य नहित है।'' डॉ अम्बेडकर ने संविधान निर्माती सभा में नीति–निदेषक तत्वों में अन्तर्निहित उद्देश्यों के बारे में स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित विचार व्यक्त किया था–

''..... हमारा संविधान संसदीय प्रजातंत्र की स्थापना करता है। संसदीय प्रजातंत्र से तात्पर्य है– एक व्यक्ति, एक वोट। हमारा यह भी तात्पर्य है कि प्रत्येक सरकार अपने प्रतिदिन के क्रिया कलापों मे तथा एक विषय के अन्त में जबकि मतदाताओं और निर्वाचक मण्डल की सरकार द्वारा किये गये कार्यों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलता है, कसौटी पर कसी जाएगी। राजीनतिक लोकतंत्र की स्थापना का उद्देश्य यह है कि हम कुछ निष्चित लोगों को यह अवसर न दें कि वे निरंकुषवाद को कायम रख सकें। जब हमने राजीनतिक लोकतंत्र की स्थापना की है तो हमारी यह भी इच्छा है कि आर्थिक लोकतंत्र का आदर्ष भी स्थापित करें। प्रष्न यह है कि क्या हमारे पास कोई निष्चित तरीका है जिससें हम आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करे सकते हैं? विभिन्न ऐसे तरीके है जिनमें लोगों का विष्वास है कि आर्थिक लोकतंत्र लाया जा सकता है। बहुत से लोग हैं जो व्यक्तिगत उत्कर्ष को सबसे अच्छा आर्थिक लोकतंत्र समझते हैं और बहुत से लोग समाजवादी समाज की स्थापना को सबसे अच्छा आर्थिक लोकतंत्र मानते हैं, और बहुत से लोग कम्युनिज्म की स्थापना को सर्वोत्तम आर्थिक समाजवाद का रूप मानते हैं। इस तथ्य पर ध्यान देते हुए कि आर्थिक लोकतंत्र लाने के विभिन्न तरीके हैं, हमने जो भाषा प्रयुक्त की है, उनमें जानबूझ कर नीति–निदेषक तत्वों में ऐसी चीज रखी है जो निष्चित नहीं है। हमने इसीलिये विविध तरीकों से आर्थिक लोकतंत्र के आदर्ष तक पहुॅचने के लिये चिन्तनषील लोागों के लिये पर्याप्त स्थान (Scope) छोड़ा है। इस संविधान की रचना में हमारे वस्तुतः दो उद्देश्य हैं–

1) राजनीतिक लोकतंत्र का रूप निर्धारित करना, और
2) यह स्थापित करना कि हमारा आदर्ष आर्थिक लोकतंत्र है और इसका भी विधान करना कि प्रत्येक सरकार जो भी सत्ता में हो, आर्थिक लोकतंत्र लाने का प्रयास करेगी।''

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नीति–निदेषक सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य विधान मण्डल और कार्यपालिका तथा क्षेत्रीय और अन्य प्राधिकारियों के समक्ष उपलब्धि का एक मानदण्ड रखना है, जिस पर उनकी सफलता और असफलता की जॉच की जा सके। यह भी आषा की गई थी कि जो इन निदेषें को कार्यान्वित करने में सफल रहे हैं, आम चुनाव के समय उन्हें उचित षिक्षा मिल सकती है। यह ध्यान देने की बात है कि नीति–निदेषक तत्व आर्थिक और सामाजिक आदर्ष के किसी निष्चित रूप का उपबन्ध नहीं करते। वे केवल उन लक्ष्यों की स्थापना करते

हैं जो समय–समय पर लागू की गई रीतियों द्वारा विभिन्न तरीकों से प्राप्त किये जा सकते हैं।

1.3.4. नीति–निदेषक सिद्धान्तों का वर्गीकरण :– संविधान की धारा 38 से 51 तक राज्य की नीति के निदेषक तत्वों का वर्णन किया गया है। क्योंकि इन सिद्धान्तों को संविधान में किसी युक्तियुक्त योजना के अनुसार नहीं गिनाया गया है, अतः उनका वर्गीकरण करना कठिन है। अध्ययन की सुविधा के लिये इनको निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है।

1.3.4.1. आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेषक सिद्धान्त – भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था और इस दृष्टि से अधिकांष तत्वों द्वारा आर्थिक सुरक्षा और आर्थिक न्याय की सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है।

44वें संविधान संषोधन द्वारा अनुच्छेद 38 में एक नया खण्ड (2) जोड़कर एक नया निदेषक तत्व जोड़ा गया है। खण्ड (2) यह उपबन्धित करता है कि राज्य विषेष रूप से आय की असमानता को कम करने का प्रयास करेगा और ना केवल व्यकितयों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लागों को समूहों के बीच प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा। इस नये निदेषक तत्व को जोड़ने की कोई विषेष आवष्कयता नहीं थी, किन्तु अनु. 38 को क्षेत्र अधिक विस्तृत है और इसके अधीन नये अनुच्छेद द्वारा अपेक्षित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है।

आर्थिक न्याय एवं आर्थिक सुरक्षा के सम्बन्ध में संविधान में इस प्रकार के निम्नलिखित तत्वों का उल्लेख है–

- राज्य प्रत्येक स्त्री ओर पुरूष को समान रूप से जीविका के साधन उपलब्ध करने का प्रयत्न करेगा।
- राज्य देष के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि आधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सके।
- राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुॅचे।
- राज्य प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री या पुरूष, समान कार्य के लिये समान वेतन प्रदान करेगा।
- राज्य श्रमिक पुरूषों और स्त्रियों को स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का आर्थिक परिस्थितियोंवष दुरूपयोग न होने देगा।

- मूल संविधान के अनुच्छेद 39 (f) में कहा गया था कि राज्य 'बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग से रक्षा करेगा।' 42वें संवैधानिक संषोधन द्वारा इसे इस प्रकार से संषोधित किया गया, ''राज्य के द्वारा बच्चों को स्वस्थ रूप से विकास के लिये अवसर और सुविधाएं प्रदान की जायेंगी, उन्हें स्वतंत्रता और सम्मान की स्थिति प्राप्त होगी, बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग में रक्षा की जायेगी।''

- राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, षिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता आदि दषाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सके।

- राज्य ऐसा प्रयत्न करेगा कि व्यक्तियें को अपने अनुकूल अवस्थाओं में ही कार्य करना पड़े तथा स्त्रियों को प्रसूतावस्था में कार्य ना करना पड़े।

- राज्य का कर्तव्य होगा कि गांवों में व्यक्तिगत अथवा सहाकरी आधार पर कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दे।

- वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना भी राज्य का कर्त्तव्य होगा।

- राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कृषि और उद्योग में लगे हुए सभी मजदूरों को अपने जीवन–निर्वाह के लिये यथोचित वेतन मिल सके, उनका जीवन–स्तर ऊपर उठ सके, वे अवकष के समय का उचित उपयोग कर सके तथा उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो सके।

- राज्य पषुपालन की अच्छी प्रणालियों का प्रचलन करेगा और गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पषुओं की नस्ल सुधार और उनके बध को रोकने का प्रयत्न करेगा। 42वें संवैधानिक संषोधन द्वारा सुरक्षा सम्बन्धी दो और निदेषक तत्व जोड़े गये हैं। कमजोर वर्गों के लिये निःषुल्क कानूनी सहायता और औद्योगिक संस्थाओं के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाने की व्यवस्था से सम्बन्धित ये निदेषक तत्व इस प्रकार है।

- नवीन अनु. 39 ''ए'' के अनु. ''राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कानूनी व्यवस्था संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय की प्राप्ति में सहायक हो और उचित व्यवस्था, योजना या अन्य किसी प्रकार से समाज के कमजोर वर्गों के लोगों के लिये निःषुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करेगा जिससे आर्थिक असामार्थ्य या अन्य किसी कारण से व्यक्ति न्याय प्राप्त करने से वंचित न रहे।

- नवीन अनु. 46 'ए' के अनुसार, ''राज्य उचित व्यवस्थापन या अन्य प्रकार से औद्योगिक संस्थाओं के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाने के लिये कदम उठाएगा।''

44वें संवैधानिक (April 1979) द्वारा आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेषक तत्वों में एक और तत्व जोड़ा गया है। इसमें कहा गया है कि ''राज्य न केवल व्यक्तियों की आय और उनके सामाजिक स्तर, सुविधाओं और अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को कम–से–कम करने का प्रयत्न करेगा, वरन् विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यकितयें आर समुदायों के बीच विद्यमान आय, सामाजिक स्तर, सुविधाओं ओर अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को भी कम–से–कम करने का प्रयत्न करेगा।

1.3.4.2. सामाजिक हित सम्बन्धी निदेषक सिद्धान्त :– इस सम्बन्ध में राज्य के निम्न कार्य निष्चित किये गये हैं–

- राज्य लोगों के जीवन–स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य सुधार के प्रयत्न करेगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये औषधि में प्रयोग किये जाने के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिये हानिकारक मादक द्रव्यों तथा अन्य मादक पदार्थों के सेवन पर प्रतिबन्ध लगाएगा।

- राज्य जनता के दुर्बलतर अंगों के विषेषतया ''अनुसचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के षिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विषेष सावधानी से रक्षा करेगा। और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

1.3.4.3. न्याय, षिक्षा, प्रजातंत्र और प्राचीन स्मारकों की रंखा से सम्बन्धित निदेषक सिद्धान्त :– भारत में सुगम और सुलभ न्याय व्यवस्था के विकास के लिये भी कुछ निदेषक तत्वों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार हैं–

- षिक्षा के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि विधान लागू होने के बाद 10 वर्ष के समय में राज्य 14 वर्ष तक के बालकों के लिये निःषुल्क और अनिवार्य षिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था भी करेगा।

- प्रजातंत्र की भावना के लिये निदेषक तत्वों में कहा गया है कि राज्य ग्राम पंचायातों के संगठन की ओर कदम बढ़ाएगा और इन्हें इतने अधिकार प्रदान किये जाएंगे कि वे स्वस्थ्य शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करे सके।
- नीति दिषेक तत्वों में प्राचीन स्मारकों, कलात्मक महत्व कै स्थानो और राष्ट्रीय महत्व के भवनों की रक्षा का कार्य भी राज्य को सौंपा गया है। राज्य का यह कर्त्तव्य निष्चित किया गया है कि वह प्रत्येक स्मारक, कलात्मक या ऐतिहासिक रूचि के स्थान की जिसे संसद से राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया हो, रक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

- 42वें संवैधानिक सेषोधन द्वारा देष के पर्यावरण की रक्षा की बात को भी निदेषक तत्वों में शामिल किया गया है। 98वे अनुच्छेद के बाद अनुच्छेद 48 'ए' का समावेष करते हुए कहा गया है कि ''राज्य देष के पर्यावरण की रक्षा और उसमें सुधार का प्रयास करेगा। राज्य के द्वारा वनों और वन्य जीवन की सुरक्षा का भी प्रयास किया जाएगा।''

1.3.4.4. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त – हमारे देष का आदर्ष, ''बसुधैव कुटुम्बकम्'' का रहा है और हमने सदैव शान्ति तथा 'जीओं और जीने दो के सिद्धान्त को अपनाया है। इसी आदर्ष को हमारे संविधान के अन्तिम निदेषक तत्व में इस प्रकार बतलाया गया है– राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निम्न आदर्षों को लेकर चलने का प्रयत्न करेगा–

- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि।
- राष्ट्रों की बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना।
- राष्ट्रो के आपसी व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संधियों के प्रति आदर–भाव बढ़ाना।
- अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा सुलझाने के लिये प्रोत्साहित करना।

निदेषक तत्वों के वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन तत्वों के आधार पर भारत के वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना हो सकेगी और हमारा देष एक लोक कल्ल्याणकारी राज्य बन सकेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्तंत्रता, समता और न्याय प्राप्त हो सके।

1.3.5. मूल अधिकार एवं निदेषक सिद्धान्तों में सम्बन्ध :– मूल अधिकार विधि के माध्यम से प्रवर्तनीय है क्योंकि वे प्रत्याभूत अधिकार हैं किन्तु निदेषक तत्वों को इस प्रकार प्रवृत्त नहीं कराया जा सकता। इस कारण दो परिस्थितियॉ उत्पन्न होती हैं–

- किसी व्यक्ति द्वारा मूल अधिकार का प्रयोग निदेषक तत्व से असंगत हो सकता है,

- किसी निदेषक तत्व को प्रभावी करने वाला विधान किसी मूल अधिकार का अतिलंधन करना है या उसे क्षीण करता है। न्यूनतम मजदूरी तय करने वाला विधान अनु. 19(1) (छ) के अधीन व्यापार के अधिकार का उल्लंधन करता है।

अनुच्छेद 31 ग यह स्वीकार करता है कि ऐसी परिस्थितियॉ आ सकती हैं जिसमे मूल अधिकार और निदेषक तत्वों में संघर्ष हों उसमें यह अधिकथित है कि यदि संविधान के भाग 4 में अंतर्विष्ट सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए कोई विधि अधिनियमित की जाती है तो उस पर इस आधार पर आक्रमण नहीं किया जा सकता है कि वह मूल अधिकार से असंगत है। ऐसी विधि मूल अधिकार पर अभिभावी होगी। इस प्रकार अनु. 31 ग निदेषक तत्वों को क्रियान्वित करने वाली सभी विधियों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता देता है।

केरल षिक्षा विधेयक में उच्च्तम न्यायालयने 1959 में समन्वयकारी निर्वाचन का नियम अंगीकार किया। न्यायालय ने यह संप्रेक्षण किया कि समन्वयकारी अर्थान्वयन का सिद्धान्त स्वीकार किया जाना चाहिए और मूल अधिकार तथा निदेषक तत्व, दोनों को सभावी करने का प्रयास किया जाना चाहिए। केषवानन्द में न्यायालय ने एक बार फिर यह कहा कि इन दोनों में ऊॅच–नीच का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालय ने दो सिद्धान्त प्रातिपादित किए–

- ✓ मूल अधिकार और निदेषक तत्व दोनों समान रूप से मौलिक हैं यद्यपि निदेषक तत्वों को न्यायालय द्वारा प्रवर्तित नहीं किया जा सकता।
- ✓ मूल अधिकार और निदेषक तत्व एक–दूसरे के अनुपूरक हैं और एक–दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं।
- ✓ मिर्नवा मिल्स बनाम भारत संघ में न्यायालय ने फिर से यह कहा कि मूल अधिकार और निदेषक तत्वों के बीच समन्वय और सन्तुलन संविधान की आधारिक संरचना का आवष्यक लक्षण है। इसके परिणामस्वरूप अनु. 31 ग की अंतः स्थापना के पष्चात् भी निदेषक तत्वों को मूल अधिकारों पर प्राथमिका नहीं दी जा सकती। उच्चतम न्यायालय के पूवर्तवर्ती निर्णयों में मूल अधिकारों की श्रेष्ठता बतो हुए जो मत अभिव्यक्त किया था अब वह बदल गया हैं मूल अधिकार और निदेषक तत्व अब एक ही धरातल पर हैं। यदि उनमें कोई संघर्ष दिखाई पड़ता है तो न्यायालय को चाहिए कि न्यायिक पुनर्विलोकन की अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए उसका समाधान निकाले।

न्यायालय किसी विधि को जो निदेषक तत्वों से असंगत है शून्य घोषित नहीं कर सकते किन्तु न्यायालयों ने ऐसी विधि को विधिमान्य ठहराया है जा निदेषक तत्व को क्रियान्वित करने के लिए अधिनियमित की गई थी।

संजीव कोक कम्पनी बनाम भारत कोकिंग में उच्चतम न्यायालय ने यह मत प्रकट किया कि मिनर्वा मिल्स में न्यायालय की राय का यह प्रभाव है कि अनु. 31 ग उस रूप में विद्यमान है जिसमें वह 42वें संषोधन के पहले था। वह केवल उन्हीं विधियों को सुरक्षा देता है जो अनु 39 (ख) और (ग) को क्रियान्वित करने के लिये बनाई गई हैं। 'प्रापर्टी ओनर्स एसोसियेषन बनाम महाराष्ट्र राज्य' में उच्च्तम नयायालय की एक पीठ ने यह राय दी है कि संजीव कोक पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

1.3.5.1. मूल अधिकार की निदेषक सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक : सामांजस्यपूर्ण संरचना का सिद्धान्त :– मूल अधिकार और नीति निदेषक तत्वों के प्रसंग में सही दृष्टिकोण यह है कि संविधान की ये दो व्यवस्थाएं एक दूसरे की पूरक हैं। संविधान के भाग तीन में सम्मिलित मूल अधिकार एवं भाग 4 में उल्लिखित निदेषक तत्व वास्तव में एक ही समूची व्यवस्था के अंग हैं तथा इन दोनें का लक्ष्य एक ही है और वह है व्यक्तित्व का विकास तथा लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना। न्यायमूर्ति के सदानन्द हेगडे के इस सम्बन्ध में 'सामांजस्यपूर्ण संरचना का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया। वे लिखते हैं–

''सिद्वान्तः एक ही संविधान के दो भागों में कोई असंगति नहीं हो सकती। राज्य नीति के निदेषक तत्वों को अपनाकर हमारे संविधान निर्माताओं ने कोई असंगति उत्पन्न नहीं की। उनका प्रयत्न वैयक्तिक अधिकार व सामाजिक कल्याण में समन्वय स्थापित करना था।''

'चन्द्रभवन वोर्डिंग एण्ड लाजिंग बैंगलोर– बनाम् 'मैसूर राज्य तथा अन्य' (1970), मिनर्वा मिलन बनाम भारत संघ (1980) तथा कछ अन्य विवादों के निर्णय में सर्वोच्च न्यायाल ने इस बात पर बल दिया है कि मूल अधिकार एवं निदेषक तत्व एक दूसरे के पूरक हैं। पापली के सदानन्द हेगडे, और ग्रेनविल आस्टिन आदि लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इसी बात पर बल दिया है। वस्तुतः इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते।

यद्यपि नीति निदेषक तत्वों को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित नहीं किया जा सकता है, किन्तु वे देष के शासन में मूलभूत है (अनु. 37)। राज्यों का यह कर्त्तव्य है कि कानून बनाते समय इन निदेषक तत्वों का पालन करें। यदि कोई सरकार इनकी उपेक्षा करती है तो उसे चुनाव के समय मतदाताओं के समक्ष उत्तर देना पड़ेगा। ये निदेषक तत्व केवल नैतिक घोषणा मात्र नहीं हैं बल्कि इनके पीछे जनता की शक्ति है जिसके कारण सभी सरकारें इन्हें लागू करेंगी। डॉ अम्बेडकर ने कहा है–

''यदि कोई सरकार इसकी उपेक्षा करती है, उन्हे निष्चित हीं इसके लिये मतदाताओं के समक्ष उत्तदायी होना पड़ेगा।''

1.3.5.2. मूल अधिकार और नीति निदेषक सिद्धान्तो में अन्तर :– मूल अधिकार और निदेषक तत्वों के उद्देश्य समान है किन्तु दोनों के बीच महत्वपूर्ण अन्तर हैं।

- मूल अधिकार अधिकतर राजनीतिक अधिकर हैं जो राज्य पर लगाम लगाते हैं। इन्हें निषेघात्मक अधिकार भी कहा जाता है। अनु. 14 और 21 का रूप भी नकारात्मक हैं। निदेषक तत्व सामाजिक अधिकार है जो राज्य की सकारात्मक बाध्यता के रूप में है और जिनका सम्बन्ध आर्थिक क्षेत्र से है।
- मूल अधिकारों का प्रविषय सीमित है किन्तु निदेषक तत्वों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।
- मूल अधिकारों को न्यायालय प्रवृत्त करा सकते हैं। न्यायालय उनकी रक्षा करते हैं और राज्य को विवष करते हैं कि वा उनका आदर करें। किन्तु न्यायालय राज्य को यह निर्देष नहीं दे सकते कि वह किसी निदेषक तत्व को प्रभावी करे। ये ऐसे अधिकार है जो न्यायालय के माध्यम से प्रवर्तनीय नहीं हैं।

1.3.6. नीति निदेषक सिद्धान्तों की आलोचना – निदेषक तत्वों की आलोचना का प्रमुख आधार निम्न है।

वैधानिक शक्ति का अभाव :– संविधान ने राज्य की नीति के निदेषक तत्वों को एक ओर तो देष के शासन के मूलभूत माना है, किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त या न्याय योग्य नहीं है। अर्थात् न्यायालय उपर्युक्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित नहीं करा सकते हे। अतः आलोचकों की राय में ये तत्व 'षुभ इच्छॉए' (Pious Wishes) नैतिक उपदेष (Moral Precepts) या ऐसी राजनीतिक घोषणाओं के सामन है जिनका कोई संवैधानिक महत्व नहीं हो।' संविधान सभा के एक सदस्य नासिरूद्दीन ने इन्हें 'नववर्ष के प्रभम दिन पास किये गये शुभकामना प्रस्ताव' जैसी वस्तु कहा था और प्रो. के. टी. शाह के शब्दों में' यह एक ऐसा चेक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। प्रो. एन. आर. आधवाचारी इन्हें 'ललित पदावली में व्यक्त उच्च ध्वनित भावनाओं की ऐसी पंकित्या कहते हें जिनका वैधानिक दृष्टि से कोई महतव नही है।'' आलोचकों का कहना है कि यदि संविधान में नैतिक उपदेष करना ही अभीष्ट था, तो बाइबिल की दस पवित्र आज्ञाओं को संविधान में क्येां नहीं शामिल किया गया है।

अस्पष्ट और आतार्किक रूप से संग्रहीत :– नीति निदेषक तत्वों के विरूद्ध यह भी आलोचना की जाती है कि वे किसी निष्चित या संगतिपूर्ण दर्षन पर आधारित नहीं है। वे अस्पष्ट है उनमें क्रमबद्धता का अभाव है। और उसमें एक ही बात को बार–बार दोहराया गया है। प्रो. श्रीनिवासन के शब्दों में– 'इस अध्याय में कुछ बेढ़ंगे तरीक से आधुनिक को पुरातन के साथ और तर्क तथा विज्ञान द्वारा सुझााए उपबन्धों को विषुद्ध रूप से भावुकता और पूर्वाग्रह पर आधारित उपबन्धों के साथ मिला दिया गया है।

एक प्रभुसत्ता सम्बन्धी राज्य में अस्वाभाविक :– एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों को ग्रहण करना अस्वाभाविक भी लगता है। एक उच्च सत्ता अधीनस्थ सत्ता को ओदष दे सकती है, जैसा कि 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में ब्रिटिष ससंद द्वारा गर्वन जनरल और गर्वनरों को आदेष दिये गये थे, लेकिन एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य को इस प्रकार के आदेष देने की आवष्कयता पड़े यह अस्वाभाविक जान पड़ता है। विधवेताओं की दृष्टि में एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के लिये इस प्रकार के आदेषों का कोई औचित्य नहीं है।

अव्यवहारिक एवं अनुचित – इन तत्वों की व्यावहारिकता व औचित्य को भी कुछ आलोचकों के द्वारा चुनौती दी गई है। उदा. के लिए– मद्य–निषेध से सम्बन्धित तत्वों की स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के प्रतिपादकों द्वारा उग्र आलोचना की गई है। मद्य–निषेध शराबियों को नैतिक प्राणी बनाने के बजाए अवैध शराब व्यापार को जन्म देगा। जेनिगंज के शब्दों में ''आने वाली सदी में ये तत्व निःसन्देह निरर्थक हो जाएंगे।''

संवैधानिक द्वन्द के कारण – संवैधानिक विधिवेत्ताओं ने यह आषंका व्यक्त की कि ये तत्व भारतीय शासन में संवैधानिक द्वन्द और गतिरोध के कारण भी बन सकते हैं।

1.3.7. उपसंहार :– नीति निदेषक तत्वों के सम्बन्ध में प्रो. जेनिंग्ज और श्रीनिवासन जैसे व्यक्तियों की यह आलोचना नितान्त अनुचति है कि ये तत्व असंगत और असामायिक हैं। वास्तव में ये विचार केवल विदेषी नहीं हैं, वरन् इस अध्याय के अनेक उपबन्ध पूर्णरूप में भारतीय हैं। यद्यपि 21 वीं सदी के भारत में यह सिद्धान्त कुछ पुराने पड़ जा रहे हो किन्तु भारत में ये सिद्धान्त सदैव उपयोगी ही रहेंगे। प्रो. एम. वी. पायली के शब्दों में – ''यदि कभी ये सिद्धान्त पुराने पड़ जायेगे तो इनका आवष्कयतानुसार संषोधन किया जा सकता है, पूरा लाभ उठा चुका होगा और भारत भूमि में आर्थिक लोकतंत्र की जड़े गहरी हो चुकी होगी। संविधान का निर्माण वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिये होता है। यदि हम वर्तमान को निर्माण सुदृढ़ नींव पर करें तो भविष्य की चिन्ता करने की कोई आवष्यकता नहीं रहेगी।

यद्यपि इन निदेषक तत्वों को न्यायालय द्वारा क्रियावित नहीं किया जा सकता, लेकिन इसके पीछे जनमत की षक्ति होती है, जो प्रजातंत्र का सबसे बड़ा न्यायालय है। अतः जनता के प्रति उत्तरदीाय कोई भी सरकार इनकी अवहेलना का साहस नहीं कर सकती । शासन द्वारा किया गया इनका बार–बार उल्लंघन देष के शक्ति षाली विरोध को जन्म देगा। व्यवस्थापिका के भीतर शासन विरोधी दल के प्रहारों का सामना करना पड़ेगा और व्यवस्थापिका के बाहर इस निर्वाचन के समय निर्वाचकों को जवाब देना होगा। निदेषक तत्वेां के पीछे जनमत की इस शक्ति के कारण शासक दल को इसकी क्रियान्विति के प्रति पर्याप्त उत्साह का परिचय देना होगा। प्रो. पायली क अनु. ''ये निदेषक तत्व राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निर्माण करते हैं और जिनके द्वारा इन तत्वों का उल्लंघन किया जाता है, वे ऐसा कार्य उत्तरदायित्व की स्थिति से अलग होने के जोखिम पर ही करते हैं। आलोचक राघवाचारी भी स्वीकार करते हैं, कि जो भी शासन सत्ता पर अधिपत्य बना ले, उसे इस अनुदेष पत्र का सम्मान करना ही होगा– आगामी आम चुनाव में उसे इस सम्बन्ध में निर्वाचकों को जवाब देना ही पड़ेगा।'' ऐसी स्थिति में अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यन ने संविधान सभा में ही कहा था कि कोई भी लोकप्रिय मंत्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धेां के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता।

संविधान के अनुसार निदेषक तत्व देष के शासन के मूलभूत हैं जिसका तात्पर्य यह है कि देष के प्रषासन के लिये उत्तरदायी सभी सत्तांए उनके द्वारा निर्देषित होंगी। न्यायपालिका का भी शासन का एक महतवपूर्ण अंग होने के कारण यह आषा की जा सकती है कि भारत में न्यायलय संविधान की व्याख्या में कार्य में निदेषक तत्वों को उचित महत्व देगा।

इन निदेषक तत्वों का लक्ष्य है– आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना। इस दृष्टि से इन तत्वों को भारतीय संविधान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग कहा जा सकता है।

वास्तव में, निदेषक तत्व भारतीय राजनीति के सर्वोच्च सिद्धान्त है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष थी केनिया ने 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के विवाद पर निर्णय देते हुए कहा था, ''क्योंकि राज्य नीति के निदेषक तत्व संविधान में शामिल हैं, इसलिये ये बहुत दल के अस्थाई आदेष मात्र ही नही हैं, वरन् उनमें राष्ट्र की बुद्धिमत्तापूर्ण स्वीकृति बोल रही हैं। जो संविधान सभा के माध्यम से व्यक्त हुई थी।''

1.3.8. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1) राज्य नीति के निदेषक सिद्धान्तों के स्वरूप एवं महत्व का परीक्षण कीजिए।
2) राज्य की नीति निदेषक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3) मौलिक अधिकार और राज्य–नीति के निदेषक सिद्धान्तों में क्या सम्बन्ध एवं अन्तर है?
4) राज्य की नीति के निदेषक सिद्धान्तों की प्रमुख रूप में किन आधारों पर आलोचना की गई है।
5) राज्य की नीति निदेषक सिद्धान्तों पर निबन्ध लिखिए।

1.3.9. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1) नीति निदेषक सिद्धान्तों का इतिहास।
2) नीति निदेषक सिद्धान्तों का वर्गीकरण।
3) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त।
4) सामाजिक हित सम्बन्धी निदेषक सिद्धान्त।
5) नीति निदेषक तत्वों के मूल उद्देश्य।

1.3.10. बहुविकल्पीय प्रष्न –

1) नीति निदेषक सिद्धान्त संविधान के किस भाग में दिये गये हैं।
(क) भाग 4 में (ख) भाग 5 में
(ग) भाग 3 में (घ) भाग 2 में

2) भारतीय संविधान में वर्णित नीति निर्देषक तत्व लिये गये है।
(क) आयरलैण्ड (ख) जर्मनी
(ग) इग्लैण्ड (घ) अमेरिका
3) भारतीय संविधान में नीति निदेषक तत्व दिये गये हैं।
(क) अनु. 38–51 के मध्य (ख) अनु. 40–55 के मध्य
(ग) अनु. 25–38 के मध्य (घ) अनु. 32 से 45 के मध्य

4) राज्य आय की असमानता को कम करने का प्रयास करेगा ''यह अनुच्छेद किस संविधान संषोधन द्वारा जोड़ा गया।

(क) 42 (ख) 44

(ग) 46 (घ) 48

1.3.11. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिषचन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

इकाई–4 धर्म निरपेक्षता

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. प्रस्तावना
1.4.1. पंथनिरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
1.4.2. व्याख्या एवं परिभाषा
1.4.3. धर्म निरपेक्षता के रूप
    1.4.3.1. नकारात्मक रूप
    1.4.3.2. सकारात्मक रूप
1.4.4. धर्म निरपेक्षता की आधार भूति मान्यताएँ
    1.4.4.1. धर्म की उपेक्षा अथवा उसका विरोध
    1.4.4.2. इहलाकिकता में विष्वास
    1.4.4.3. विज्ञान के महत्व व उसकी उपादेयता में पूर्ण विष्वास
    1.4.4.4. नैतिकता की धर्म से पूर्णता उन्मुक्ति
1.4.5. धर्म निरपेक्ष राज्य
1.4.6. धर्म निरपेक्ष राज्य की मुख्य विशेषताएँ
    1.4.6.1. धर्म सम्बन्धी अहस्तक्षेप की नीति,
    1.4.6.2. धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं,
    1.4.6.3. धर्म से पूर्णतः पार्थक्य
    1.4.6.4. सामाजिक समरसता तथा धार्मिक सहिष्णुता का संरक्षण
1.4.7. भारत में धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान
1.4.8. डपसंहार
1.4.9. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
1.4.10. लघु उत्तरीय प्रष्न
1.4.11. संदर्भ सूची

1.4.0. उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य निम्न है–

1. विद्यार्थियों में धर्मनिरपेक्षता के अर्थ एवं महत्व को ज्ञात करवाना हैं
2. धर्म निरपेक्षता की विशेषताओं पर प्रकाष डालना है।
3. धर्म निरपेक्षता की आधारभूत मान्यताओं का ज्ञान करवाना है और
4. भारत के धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधानों से अवगत कराना है।

1.4.1. प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में धर्मनिरपेक्षता एवं व्यवस्थापरक संकल्पना है, जिसमें दर्षन एवं व्यवहार दोनों समाहित हैं। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध राज्य के दृष्टिकोण से होता है, सत्ता का वर्ग की नीतियों से होता है और राजनीतिक प्रणाली से होता है। धर्म एवं आस्था जनित सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त का प्रणयन हुआ है। राजनीति और धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों को रूपायित करने वाला यह नीतिगत सिद्धान्त वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

धर्मतंत्री या धर्म सापेक्ष राज्य व्यवस्था राज्य के धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों का कदाचित असुरक्षा की स्थिति में रख सकती है। ऐसे राज्यों में राज्य का एक प्रमुख उद्देश्य बहुसंख्यक धार्मिक जन–समूह की धार्मिक परम्पराओं तथा संस्मृति की सुरक्षा करना रहता हैं लोकतंत्र तथा धर्म निरपेक्षता समानान्तर चलने वली धारणाएं हैं। एक के अभाव में दूसरी अप्रभावी हो जाती है। लोकतंत्र संख्या आधारित बहुमत एंव अलपमत के समन्वय का खेल है। बहुमत और अल्पमत के निर्धारण में कभी–कभी धार्मिक समुदायों की भूमिका निर्णायक हो जाती है। ऐसे में धार्मिक अल्संख्यक एंव बहुसंख्यक वर्ग की मानसिकता के प्रति राज्य एवं शासन की सतर्क, सुविधारित एवं संतुलित नीति की अपेक्षा होती है। धर्म निरपेक्षता का अभिप्राय विषुद्ध रूप से राजनीतिक है। इस सिद्धान्त का धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता के साथ कोई सकारात्मक सम्बन्ध नहीं हैं।

आधुनिक लोकतंत्र के लिए धर्म–निरपेक्षतावाद क्रमषः एक महत्वपूर्ण तत्व बनता चला गया। हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग राज्य और राजनीति में धर्म के निर्णायक हस्तक्षेप को अस्वीकर करने के लिए किया गया। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में धर्मरिपेक्षता शब्द को 42वें संविधान संषोधन के माध्यम से सम्मिलित किया गया। इस समय समाजवाद, साम्यवाद, मानवतावाद, लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य की अवधारणाओं की पीछे छोड़ती हुई धर्मनिरपेक्षता, की अवधारणा चर्चा का प्रमुख विषय बन गई हैं।

राजनीतिक फलक पर सेक्युलराइजेषन (धर्मनिरपेक्षीकरण) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1648 में तब हुआ था जब यूरोप के गिरिजाघरों की सम्पत्ति पर वहॉ के राजकुमारों का पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो गया था। ऐसा निरन्तर तीस वर्षों तक चले युद्ध के बाद सम्भव हो सका था।

1.4.2. पंथनिरपेक्षता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पंथनिरपेक्षता का उद्भव यूरोप के दैनिक जीवन में धर्म या चर्च के प्रभाव के उन्मूलन के रूप में हुआ माना जाता है। मध्यकाल का यूरोपीय समाज एक धर्म प्रधान समाज था और सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभाव सबल था। 13वीं एवं 14वीं सदी तक आते–आते धर्म और राज्य के बीच गठबन्धन ने धर्म के अन्तर्गत अनेक रूढ़ियों एवं कुरीतियों को विकसित किया जो राज्य और धर्म द्वारा किये जाने वाले शोषण को वैधता प्रदान करती थी।

- पुनर्जागरण आन्दोलन ने तर्कसंगत ज्ञान के महत्व में वृद्धि को सम्भव बनाया। फलतः कला और ज्ञान के प्रति रूचि एवं तर्कसंगत खोज के साथ ही ज्ञान के क्षेत्र में पुन्र्व्याख्या एवं आलोचना का दौर आरम्भ हुआ। छापेखाने के अविष्कार के कारण इन विचारों की जनसामान्य के लिए सरलता से उलब्धधता को बल मिला।
- यूरोप की वैज्ञानिक क्रान्ति ने तर्कसंगत, पद्धतिबद्ध तथा प्रयोगसिद्ध ज्ञान के महत्व में वृद्धि को सम्भव बनाया। फलतः इस ज्ञान के आधार पर विष्व सम्बन्धी पूर्व पारलौकिक व्याख्याओं एवं धारणाओं को चुनौती मिली, जिससे

धर्म के प्रभाव में कमी आई। इसमें वृद्धि हुई और इस सन्दर्भ में धर्म पर निर्भरता में कमी आईं।

- आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के जनक मैकियावली (1497–1527) ने धर्म को राजनीति से पृथक कर शासन सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय राज्य जैसी अवधारणाएं विकसति हुई।
- सोलहवीं सदी के ईसाई धर्म के अन्तर्गत सुधार आन्दोलन द्वारा ईसाई धर्म के अन्तर्गत सुधार आन्दोलन द्वारा ईसाई धर्म में विद्यमान मध्य–युगीन कुरीतियों को समाप्त करने एवं बाइबिल के अनुरूप सिद्धान्तों तथा रीतियों के पुनर्स्थापन पर बल दिया गया तथा इन सिद्धान्तों एवं रीतियेां को प्रोटेस्टेंटवाद नाम दिया गया। प्रोटेस्टेंटवाद ने ईष्वर को व्यक्तिगत बना दिया और व्यक्तिगत सांसारिक क्रिया को ईष्वर की आस्था के प्रतीक के रूप में प्रोत्साहित करके धर्म को अधिकाधिक व्यावहारिक एवं तर्कसंगत बनाने का प्रयास किया, जिसका अध्ययन मैक्स वेबर (1864–1920) ने किया है।
- यूरोप में होने वाले व्यापार एवं वाणिज्य के विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति के कारण मध्यम वर्ग का विकास सम्भव हुआ। इस मध्यम वर्ग ने अपने अस्तित्व को स्थापित करने की प्रक्रिया में धर्म आधारित परम्परागत विचारधारा एवं व्यवस्था का विरोध किया। साथ ही औद्योगीकरण ने व्यक्ति को विकेकसम्मत आर्थिक क्रियाओं की ओर प्ररित कर समाज को अधिकाधिक तर्कसंगत बनाने का प्रयास किया।
- लोकतांत्रिक समाजों में कुछ पंथ या समुदाय विषेष को शासन द्वारा विषेष सुविधाएं दी जाती हैं। (जैसे भारत में हज यात्रा सब्सिडी) तब ऐसी दषा को जुर्गेन हैबरमाज ने पोस्ट सेक्युलरिज्म (Post-Secularision) कहकर पुकारा है।

1.4.3. व्याख्या एवं परिभाषा

धर्म के साथ राजनीति के वांछित सम्बन्ध का निरूपण धर्म निरपेक्षता के सिद्धानत में मिला है। राजनीति व्यवस्था की परिचायक है जिसका उद्देश्य है जनकल्याण, व्यक्ति का सर्वांगींण विकास, सर्वोन्नति। धर्म निरेपेक्षता एक विषेष प्रकार का मानवतावादी जीवन दर्षन है जो, अलौकिक या अति प्राकृतिक शक्ति पर आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद का निषेध करते हुए नैतिकता षिक्षा राजनीति , प्रषासन, कानून आदि को इन दोनों से पूर्णतः स्वतंत्र मानता है और जो मुनष्य की आलौकिक या दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने के स्थान पर पूर्णतः आत्म निर्भर बनने की प्रेरणा देकर उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रषस्त करता है। अध्यात्मवाद को अस्वीकार करने के कारण यह सिद्धान्त नैतिकता को धर्म से पूर्णतः पृथक एवं स्वतंत्र मानता है। धर्म निरपेक्षतावाद में धर्म शब्द का प्रयोग इसके समान्य प्रचलित अर्थ में ही किया जाता है जिसके अनुसार हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, इस्लाम आदि को धर्म कहा जाता है। यहॉ धर्म शब्द का अर्थ 'अभ्युदय' अथवा स्वकर्त्तव्य पालन नहीं हैं जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह है कि **धर्मनिरपेक्षतावाद अभ्युदय अथवा स्वकर्त्तव्य**–पालन के

अर्थ में धर्म का निषेघ नहीं करता। यह सिद्धान्त धर्म शब्द के उस अर्थ में इसका निषेध करता है, जिस अर्थ में धर्म के लिए (Religion) रिलीजन तथा मजहब जैसे शब्दों का प्रयोग किया जताा है। धर्म निरपेक्षतावाद इसे सामान्य प्रचलित अर्थ में धर्म का परित्याग करना अथवा कम से कम उसके प्रति तटस्थ रहना या उदासीन रहाना ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर मानता है। सामान्यतः जिस अर्थ में धार्मिकता और आध्यात्मिकता को ग्रहण किया जाता है उसमें यह सिद्धान्त किसी भी रूप में इनका समर्थन नहीं करता। वस्तुतः किसी आलौकिक सत्ता या शक्ति पर अनिर्वायतः आधारित धर्म तथा अध्यात्मवाद के विपरीत इस सिद्धान्त का मूल आधार यह भौतिक जगत और इसमें मनुष्य का वर्तमान जीवन ही है। यही कारण है कि इसे 'इहलौकिक सिद्धान्त', माना जाता है और 'इहलौकवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति, कानून, अर्थव्यवस्था, षिक्षा, नैतिकता, प्रषासन आदि में धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

- 'धर्मनिरपेक्षतावाद' के प्रणेता 'जार्ज जैकव हॉलियोक' के अनुसार ''ईष्वर के साथ–साथ नैतिकता का भी निषेध करने वाले सिद्धान्त निरीश्वरवाद हो पृथक धर्मनिरपेक्षतावाद मानव समाज के लिए अनिवार्य नैतिकता का समर्थन एवं केवल ईष्वर तथा अन्य अलौकिक शक्तियों के निषेध करने का सिद्धान्त है।''
- **डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णनन –** ''यह वैयक्तिक गुणों को समुदाय के सदस्यों के अधीन मानने के स्थान पर उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित करके धर्मपरायण व्यक्तियों में एकता अथवा सौहार्द उत्पन्न करने का प्रयास करता है।'' व्यापक रूप से धर्मनिरपेक्षतावाद के समर्थक राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रषासन –व्यवस्था, विधि–व्यवस्था, षिक्षा, नैतिकता एवं आर्थिक व्यवस्था को धर्म से पृथक एवं स्वतंत्र मानते हैं तथा इन सभी क्षेत्रों में धर्म के हस्तक्षेप का पूर्णतः निषेध करता है।
- **धर्म निरपेक्षता के रूपः–** धर्म एवं अध्यात्मवाद के विपरीत धर्म–निरपेक्षतावाद मनुष्य को अपनी सर्वांगीण प्रगति के लिए पूर्णतः स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त मानव को पराश्रित एवं पंगु बनाने वाले समस्त धार्मिक सिद्धान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट एवं श्रेयस्कर है। सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था एवं समस्त नैतिक नियमों का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य का वैयिक्तिक तथा सामाजिक कल्याण है, अतः नैतिकता का मूल स्त्रोत स्वयं मानव समाज ही है, ईष्वर या कोई अन्य दैवीय सत्ता नहीं। मनुष्य अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयास द्वारा ही अपने जीवन को सुखमय, समृद्ध और उन्नत बना सकता है, इसमें ईष्वर या कोई अन्य देवी शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसी किसी शक्ति क अस्तित्व ही नहीं हैं।

  धर्म निरपेक्षतावाद के सामान्यतः दो रूप या पद्वति प्रस्तुत किये जाते हैं।
  1. नकारात्मक पक्ष एंव
  2. सकारात्मक पक्ष

1.4.3.1. नकारात्मक पक्ष :– नकारात्मक रूप से धार्मिक मामलों में राज्य पूर्ण तटस्थता की नीति पर चलता है। वह धर्म विषेष के उत्थान या उसे निरूत्साहित करने के लिये कोई कदम नहीं उठाना। वह धर्म प्रचार के कार्यों या धार्मिक संस्थाओं के विकास सम्बन्धी मामलों में भाग नहीं लेता। राज्य की नीतियेां का निर्माण या कार्यान्वयन धार्मिक आधार पर नहीं किया जाता। राज्य किसी धर्म के विकास हेतु कोई कर नहीं लगाता। सार्वजनिक सेवाओं व पदों पर नियुक्तियों में धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करता। धर्म प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत विषय है, अतः उसे मानव के सामाजिक जीवन से पृथक् रखना आवष्यक है। अपने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समस्यओं के विषय में मनुष्य का कोई भी निर्णय किसी भी रूप में धार्मिक सिद्धान्तों, मान्यताओं अथवा विष्वासों द्वारा प्रभावित नहीं होना चाहिए। इसी अर्थ में धर्मनिरपेक्षता मानव–जीवन में धर्म का पूार्णतः निषेध करता है।

1.4.3.2. सकारात्मक पक्ष :– सकारातमक रूप से राज्य सभी नागरिकों को धार्मिक विष्वास की स्वतंत्रता प्रदान करता है। धार्मिक अलपसंख्यकों को सार्वजनिक पदों की प्राप्ति हेतु समान अवसर देता है। राजकीय अवसर देने में सभी धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित सस्थाओं के साथ समान नीति बरतता है।

पंथनिरपेक्षता का सकारात्मक पत्र धर्म के प्रति पूरी तरह तटस्थता के भाव में रूप में अभिव्यक्त नहीं हेाता अपितु यह धर्म के प्रकार्यात्मक पहलुओं को अपनाने की स्वीकृति देता है। विकास एवं सामाजिक परिवर्तन में धर्म की भूमिका पर मैक्स वेबर ने प्रकास डाला है।

सकारात्मक पक्ष सम्बन्धी कुछ प्रस्थापनाएँ निम्नलिखित हैं–

- यह मनुष्य के जीवन में केवल धर्म का निषेध ही नहीं करता, अपितु बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उपायों द्वारा व्यापक अर्थ में मानव कल्याण के लिए मार्ग भी प्रषस्त करता है।
- इसके समर्थकों का निष्चित मत है कि हमें अपने जीवन की प्रत्येक समस्या पर तर्क–संगत रूप से विचार करना चाहिए और बौद्धिक उपायों तथा वैज्ञानिक विधियों द्वारा उसका समुचित समाधान खोजने का प्रयास करना चाहिए।
- इस दृष्टि से पंथनिरपेक्षवाद मनुष्य के स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन तथा विस्तृत वैज्ञानिक अनुसंधान को विषेष महत्व देता है।
- इस सिद्धान्त के समर्थकों को विचार है कि मानव का सम्पूर्ण ज्ञान मूलतः उसके अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि पर ही आधारित है।
- अध्यात्मवाद को अस्वीकार करने के कारण पंथनिरपेक्षवादी नैतिकता को धर्म से पूर्णतः पृथक और स्वतंत्र मानते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था और समस्त नैतिक नियमों का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य का वैयक्तिक और समाजिक कल्याण है। अतः नैतिकता का मूल स्त्रोत मानव समाज ही है, ईष्वर या कोई दैवीय सत्ता नहीं।

इस प्रकार धर्म निपरेक्षता के सकारात्मक एंव नकारात्मक दोनें पक्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म–निरपेक्ष राज्य अधार्मिक या धर्म विहीन नहीं है। बल्कि यह सब धर्मों की षिक्षाओं का सम्मान करता है परन्तु राजनीतिक कार्य–कलापों में ऐसा कुछ नहीं करता जिससे किसी धर्म–विषेष के मानने वालों का अहित हो, और किसी अन्य धर्म के मानने वालो का हित हो।

1.4.4. धर्म निरपेक्षतावाद की आधारभूत मान्यताएँ

धर्म निरपेक्षतावाद के आधुनिक सिद्धान्त के प्रणेता निरीष्वरवाद अंग्रेज विचारक जार्ज जैकब हॉलियोग एवं चालर्स ब्रेडलॉफ भोतिकवादी दार्षनिक थे। इनकी मान्यता है कि विष्व की अन्तिम सत्ता युदगल अथवा शक्ति है, कोई अलौकिक या अति प्राकृतिक तत्व नहीं। यह सत्ता स्वयम्भू तथा नित्य है और ईष्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने नहीं की। इस प्रकार की भौतिकवादी तथा निरीश्रवरवादी विचार–धारा से उक्त दोनें दार्षनिकों ने धर्म निरपेक्षतावाद की चार आधारभूत मान्यताओं का उल्लेख किया है।

1.4.4.1. धर्म की उपेक्षा अथवा उसका विरोध :– धर्म निरपेक्षतावाद की प्रथम आधारभूत धारणा के रूप में धर्म की उपेक्षा अथवा विरोध का अभाव है। इस सन्दर्भ में हॉलियोक एवं ब्रेडलॉफ के विचारों में कुछ भिन्नता है। हॉलियोक की मान्यता है कि हमें हसी जगत् और मनुष्य की वर्तमान जीवन की समस्याओं का अध्ययन तथा समाधान करते समय धर्म की उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् उसके प्रति उदासीन रहकर उसे कोई महत्व नहीं देना चाहिए। किन्तु ब्रैडलॉफ का विचार है कि इस सम्बन्ध में धर्म की उपेक्षा ही पर्याप्त नहीं, उसका विरोध तथा खण्डन करना भी आवष्यक है।

1.4.4.2. इहलौकिकता में विष्वास :– धर्मनिरपेक्षतावाद समस्त अलौकिक या अति प्राकृतिक शक्तियों अथवा सत्ताओं का निषेध करता है। इसी की आस्था केवल इहलौकिकता में है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि इसी संसार और मनुष्य के वर्तमान जीवन के विषय में ही विचार किया जाना चाहिए, दैवी शक्तियों तथा परलोक के सम्बन्ध में नहीं यह सिद्धान्त मानवतावाद को ही पूर्णतः स्वीकार करता है।

1.4.4.3. विज्ञान के महत्व एवं उसकी उपादेयता में पूर्ण विष्वास :– धर्म निरपेक्षतावादियों की मान्यता है कि विज्ञान की प्रगति में ही मानक जीवन का उत्थान एवं कल्याण निहित है। विज्ञान ही मानव जीवन के सुखमय, समृद्ध एवं उन्नत बना सकता है। विज्ञान ही भयंकर प्राकृतिक आपदाओं तथा व्याधियों से बचने में मानक समुदाय की सहायता करने में समर्थ है। वैज्ञानिक विधियों तथा प्राकृतिक नियमों के अध्ययन का सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक आधार है और इनके निष्कर्षों से उपलब्ध ज्ञान के आधार पर मनुष्य अपने जीवन में खुख एवं समृद्धि प्राप्त कर सकता है। आज का युग पूर्णतः विज्ञान का युग है।

1.4.4.4. नैतिकता की धर्म से पूर्णता उन्मुक्ति :– धर्मनिरपेक्षतावादी विचारक नैतिकता को धर्म पर आधारित ना मानकर स्वयं धर्म को ही नैतिकता पर आधारित मानते हैं। नैतिकता मनुष्य के कल्याण का साधन है, अतः उपयोगिता ही नैतिकता का एकमात्र सर्तसंगत मापदण्ड है। धर्म, ईष्वर, आत्मका की अमरता, स्वर्म, नरक आदि पारलौकि सत्ताओं में विष्वास किये बिना ही मनुष्य नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट जीवन व्यतीत कर सकता है, अतः नैतिकता को किसी भी रूप में धर्म पर आधारित अथवा उससे अनिवार्यतः सम्बद्ध मानना किसी भी तरह उचित एवं न्यायसंगत नहीं है।

1.4.5. धर्मनिरपेक्ष राज्य

सामाजिक समरसता बनाये रखने के लिये धर्मनिरपेक्षता की नीति का अवलम्बन करने वाला राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है। ऐसे राज्य का न तो आध्यात्मिक मानयताओं वाला अपना कोई धर्म होता है और न ही इसके द्वारा किसी विषेष धर्म को संरक्षण किया जाता है। इसका उद्देश्य किसी धर्म विषेष का विकास या प्रचार करना नहीं होता है। धार्मिक आस्था व्यक्ति का नितान्त निजी विषय है तथा धार्मिक विष्वसनीयता व्यक्ति की अन्तरात्मा का विषय है। राज्य के सभी नागरिकों को समान रू‍प से नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य के किसी भी राजनीतिक या सार्वजनिक पद पर नियुक्ति या निर्वाचन हेतु किसी धर्म विषेष की मान्यता वैधानिक दृष्टि से अर्हता या अनर्हता की शर्त नहीं होती। राज्यान्तर्गत संस्थाओं को शासकीय अनुदान देने में धर्म के आधार पर भेद–भाव नहीं किया जाता है। शासकीय अनुदान प्राप्त षिक्षण संस्थाओं में प्रवेष, सेवा आदि में धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं होता और न ही ऐसी संस्थाएं किसी धर्म विषेष की षिक्षा प्राप्त करने हेतु किसी षिक्षार्थी को उसकी इच्छा के विरूद्ध बाध्य कर सकती है। शान्तिपूर्ण सत्ता परिवर्तन में निर्वाचन के अनन्तर राजनीतिक दलों द्वारा धार्मिक प्रतीकों, मान्यताओं एवं गतिविधियों का आश्रय लिया जाना अपेक्षित नहीं हैं।

धर्म निरपेक्ष राज्य में धर्म एवं राजनीति के रिष्ते (सम्बन्ध) स्पष्ट रूप से निर्धारित होते हैं राज्य के कार्यों में धार्मिक हस्तक्षेप का कोई स्थान नहीं होता है। धर्म निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय उस राज्य व्यवस्था से है जो राजनीति तथा धर्मको एक–दूसरे से पृथक रखती है। सामाजिक सद्भाव बनाये रखने के लिए लोकहित में राज्य धार्मिक गतिविधियों को नियंत्रित कर सकात ह। किन्तु ऐसा राज्य धर्म विहीन या धर्मविरोधी नहीं हेाता। इसके विपरीत वह सब धर्मों का समान रू‍प से सम्मान करता है। राज्य के द्वारा ना तो व्यक्ति के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया जा सकता है और न ही उसके द्वारा इस प्रकार का प्रयत्न किया जाना चाहिए। प्रत्येक नागरिक को धार्मिक विष्वास की स्वतंत्रता प्राप्त होती है। धार्मिक जन समूहों को अपनी संस्थॉए स्थापित करने, उनका प्रबन्ध धर्म का प्रचार करने, धार्मिक उत्सवों को मनाने आदि की पूर्ण स्वतंत्रता इस प्रतिबन्ध के साथ प्राप्त रहती है कि ऐसा करने से सार्वजनिक शान्ति और नैतिकता को बाधा न पहुॅच और अन्य धर्मावलम्बियों का अपमान न हो। इस तरह धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक आस्थाओं और गतिविधियेां को मान्यता तो देता है किन्तु स्वयं इससे किसी भी तरह से सम्बद्ध नहीं है। समसामायिक लोक–तांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राज्य का धर्म निरपेक्ष स्वरूप ही उसकी लोकल्याणकारिकता का द्योतक है।

1.4.6. धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की मुख्य विशेषताएं

धर्म, व्यक्ति और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्धों तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का धर्म, धर्मपरायण व्यक्ति एंव धार्मिक संगठनों के प्रति दृष्टिकोण पर सम्यक् विवेचन से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की कुछ अनिवार्य विशेषताएँ परिलक्षित होती है।

1.4.6.1. धर्म सम्बन्धी हस्तक्षेप की नीति :– धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषता यह है कि वह धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत मामला मानकर व्यक्ति तथा समुदाय को धर्म के विषय में समुचित स्वतंत्रता प्रदान करता है। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को स्वीकार कर सकता है और उसकी पूजा पद्धति के अनुरूप उपासना कर सकता है। इसी प्रकार वह अपना धर्म परिवर्तन करने अथवा किसी भी धर्म में विष्वास न करने के लिए भी स्वतंत्र है। इस धार्मिक स्वतंत्रता की कुछ सीमॉए भी हैं। किसी भी व्यक्ति तथा समुदाय को ये धार्मिक स्वतंत्रता उसी सीमा तक दी जा सकती है जिस सीमा तक यह राष्ट्र में कानून, शान्ति एंव व्यवस्था, जन–स्वास्थ्य, राष्ट्रीय सुरक्षा, नैतिकता, अन्य व्यक्तियों के अधिकारों और उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में बाधक सिद्ध न हो। इस प्रकार धर्म–निरपेक्ष राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति तथा समुदाय का कुछ विषेष सीमाओं के अन्तर्गत समुचित धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जाती है।

1.4.6.2. धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं :– धर्म निरपेक्ष राष्ट्र की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किए बिना सभी व्यक्तियों को राष्ट्र का नागरिक समझा जाता है। नागरिक के रू‍प में उकने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व एवं अधिकार किसी भी रूप में उनके धार्मिक विष्वासों द्वारा प्रभावित नहीं हेाते। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों के धार्मिक विष्वासों पर विचार किए बिना धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अपने समसत कानून उन पर समान रूप से लागू करता है।

धर्म के आधार पर विभिन्न नागरिकों के लिए भिन्न–भिन्न कानूनों को स्वीकार नहीं किया जाता। सभी नागरिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे केवल अपने के प्रति ही पूर्ण निष्ठा एवं प्रतिबद्धता रखेंगे राष्ट्र और इसमें धर्म को किसी भी रूप में बाधक नहीं बनने देंगे। इस प्रकार धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को किसी विषेष धर्म के अनुयायी के रूप में नहीं, अपितु एक ऐसे नागरिक के रूप में मान्यता है, जिसके कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों एवं अधिकारों पर उसके धार्मिक विष्वासों और विचारों का कोई प्रभाव नही पड़ता।

1.4.6.3. धर्म से पूर्णतः प्रार्थक्य :– धर्म निरपेक्षता की प्रमुख विशेषता है, अपने आपको धर्म से पूर्णतः पृथक रखना। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र तथा धर्म के कार्यक्षेत्र, एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न माने जाते हैं। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत मामला समझा जाता है जिसमें राष्ट्र तक तक हस्तक्षेप नहीं करता जब तक ऐसा करना राष्ट्र की सुरक्षा, जन–स्वास्थ्य, शान्ति एवं व्यवस्था तथा नागरिकों के अधिकारों के लिए अनिवार्य न हो जाए। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्ष राष्ट्र अपने

आपको नागरिकों के धर्म से पूर्णतः पृथक रखता है। इसके साथ ही वह किसी धर्म को न तो संरक्षण देता है और न उसके विकास तथा प्रचार–प्रसार में अनावष्यक अवरोध उत्पन्न करता है। इस प्रकार एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की उच्च आध्यात्मिक उद्देश्यों की साधना कर सकता है और किसी धर्म विषेष से बिना बंधे हुए अहिंसा, सहअस्तित्व, विष्वबन्धुत्व और शान्ति प्रियता जैसे नैतिक आदर्षों, जिनका धर्म से निकटस्थ सम्बन्ध होता है, को मान्यता दे सकता, अपना सकता है।

1.4.6.4. सामाजिक समरसता तथा धार्मिक सहिष्णुता का संरक्षण :– लोकतंत्र में सहमति, सर्वानुमति, सद्भाव, सहिष्णुता एवं पारस्परिक विचार–विमर्ष का विषेष महत्व है। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र लोक–तांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए सामाजिक समरसता पर विषेष बल देता है। तथा इस बात का ध्यान रखता है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों द्वारा अलग–अलग धार्मिक विष्वासों के कारण पारस्परिक वैमनसय की स्थिति न उत्पन्न होने पाये। धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन करता है। सभी धर्मो एवं उनके मतावलम्बियों को एक समान सुविधाएं प्रदान की जाती हैं और जब तक लोकहित में अपरिहार्य न हो धार्मिक गतिविधयों के नियमन का प्रयत्न नहीं किया जाता। धार्मिक सहिष्णुता से ही सर्व धर्म समभाव को बल मिला है जिससे बहुधर्मी उप बहुजातीय समाज में विखराव की सम्भावन समाप्त होती है।

1.4.7. भारत में धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान

भारत के संविधान के अनुसार राज्य (भारत) का अपना कोई धर्म नही है और यहॉ राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्त्रोत किसी दैवीय अथवा पारलौकिक शक्ति को न मानकर जनता को माना गया है। चूंकि भारतीय संविधान विभेद रहित राज्य की श्रेणी में आता है अतः यह व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से किसी भी धर्म को मानने की स्वतंत्रता, विभिन्न धर्मों के विकास के लिए राज्य द्वारा समान रूप से सहायता दिये जाने तथा धर्म के आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में किसी प्रकार के भेदभाव न किये जाने की व्यवस्था करता है।

भारत के संविधान के 42वें संषोधन 1976 के अन्तर्गत भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 25 प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतंत्रता प्रदान करता है। किसी भी धर्म को अबाध मानने, उसके अनुसार आचरण करने और उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता भी प्रदान करता है। इस अनुच्छेद से यह स्पष्ट है कि भारत में धर्म के मामले में राज्य उदासन या तटस्थ नहीं है। अन्य प्रमुख प्रावधान निम्न प्रकार हैं–

- संविधान का अनुच्छेद 14 समानता के अधिकार को मान्यता देता है। इसी की अधीन सभी नागरिकों को राजनीतिक क्षेत्र में समान अधिकार दिया गया है और धर्म, जाति, वंषके आधार विभेद नहीं किया गया है।
- संविधान का अनु. 15 धर्म, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद को वर्जित घोषित करता है। इस अनुच्छेद में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य किसी भी नागरिक के विरूद्ध धर्म, मूल, देष, जाति आदि के आधार कोई भेदभाव नहीं करेगा।

- संविधान का अनुच्छेद 16 राज्याधीन नौकरियों के मामले में सभी नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान करता है और यह व्यवस्था करता है कि किसी भी नागरिक के प्रति उसे धर्म, जाति, निवास स्थान आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा।
- संविधान का अनुच्छेद 26 धार्मिक समुदाय अथवा उसके किसी भाग को धार्मिक और पुण्य प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण, अपने धार्मिक कार्य सम्बन्धी विषयेां की व्यवस्था, चल तथा अचल सम्पत्ति के अर्जन एवं स्वामित्व तथा उसके प्रषासन का अधिकार प्राप्त करता हैं
- अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यकों को अपनी रूचि के षिक्षण संस्थानें की स्थापना और प्रषासन का अधिकार दिया गया है।

भारत के संविधान के उपर्युक्त प्रावधानों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में राज्य धार्मिक मामलों से बिल्कुल पृथक नहीं है। इसीलिए भारत में धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध अमेरिका में धर्म और राजनीति के सम्बन्ध से भिन्न है। भारत का संविधान धर्म और राज्य के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींचता, वह धार्मिक मामलों में रूचि लेता है, लेकिन विभिन्न धर्मों के बीच विभेद न करके समानता और सर्वधर्म सम्भाव के सिद्धान्त को अपनाता है।

1.4.8. उपसंहार

धार्मिक सहिष्णुता पर अवलम्बित सर्व धर्म निपरेक्षतावाद सभी धर्मों का समान रूप से निषेध करने अथवा कम के कम उन सबके प्रति समान रूप से तटस्थ या उदासीन रहने का सिद्धान्त है। सर्व धर्म सम्भाव का सिद्धान्त सभी धर्मों का समान रूप से आदर करने की षिक्षा देता है जिसके मूल में धार्मिक सहिष्णुता का विचार निहित है, किन्तु धर्म–निरपेक्षतावाद के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। धर्म निरपेक्ष राज्य की धारणा राजनीति तथा धर्म को पृथक करती है। उसमें धर्म को व्यक्ति का वैयक्तिक विषय माना जाता है और धार्मिक विष्वासिता, आचरण तथा चिन्तन को व्यक्ति के निजी मामले समझकर उसे अन्तःकरण की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहती है। राजनीतिक दायित्वों के सम्बन्ध में व्यक्ति, धर्म को वरीयता उसी हद तक दे सकता है जहॉ तक उसके आचरण से सार्वजनिक शान्ति, कर्तव्यों तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता तथा स्वास्थ्य को कोई आघात न पहुॅचे। ऐसा राज्य अधार्मिक नहीं है। वह नागरिको को धार्मिक स्वतंत्रतायें प्रदान करता हे। वह यह मानता है कि धार्मिक विष्वास व्यक्ति में अनेक नैतिक गुणों का विकास करते हैं। साथ ही साथ धर्मों की षिक्षाऍ स्वस्थ्य सामाजिक एवं राजनीतिक चरित्र के निर्माण में सहायता देती हैं। परन्तु राज्य किसी धर्म विषेष की मान्यता अन्य धर्मावालम्बियों के साथ भेदभाव या अन्याय की द्योतक हो सकती है। जिससे सामप्रदायिक असन्तोष बढ़ता है। यह राष्ट्रीय एकता के लिए अभिशाप सिद्ध हो सकता है। साम्यवादी व्यवस्थायें भले ही धार्मिक स्वतंत्रताएं देती हैं, परन्तु वे अधार्मिक हैं वे परम्परागत धार्मिक विष्वासिता को को हतोस्तासहित करता है। वहॉ धार्मिक

विष्वास राजनीतिकएवं सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के लिए धर्म निरपेक्ष राज्य–व्यवस्था एवं अपरिहार्य आवष्यक है।

1.4.9. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1. धर्म निरपेक्षतावाद की अवधारणा समझाइए।
2. धर्म निरपेक्षतावाद की व्याख्या कीजिए तथा इसके सकारात्मक एक नकारात्मक पक्षों पर प्रकाष डालिए।
3. धर्मनिरपेक्ष राज्य की विचेचना करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. भारतीय धर्म निरपेक्षता की स्थिति पर निबन्ध लिखिए।
5. भारत में धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधानों पर चर्चा करिए।

1.4.10. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1. धर्मनिरपेक्षता का अर्थ
2. भारत में धर्म निरपेक्षता
3. धर्मनिरपेक्षता के रूप
4. धर्मनिरपेक्षता का महत्व
5. धर्मनिरपेक्षता की आधारभूत मान्यताएँ।

1.4.11. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिषचन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

खण्ड–2 संघीय व्यवस्था सरकार की संरचना (संघवाद)

इकाई –I संरचना और प्रक्रिया II राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री , मंत्रि परिषद

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देष्य
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. राष्ट्रपति
- 2.1.2.1. राष्ट्रपति पद की योग्यतायें
- 2.1.2.2. राष्ट्रपति का निर्वाचन
- 2.1.2.3. कार्यकाल
- 2.1.2.4. महाभियोग
- 2.1.2.5. राष्ट्रपति के कार्य एवं शक्तियॉ
  - 2.1.2.5.1. सामान्य कालीन शक्तियॉ
    - 2.1.2.5.1.1. कार्य पालिका शक्ति
    - 2.1.2.5.1.2. सैनिक शक्ति
    - 2.1.2.5.1.3. कूटनीतिक शक्ति
    - 2.1.2.5.1.4. विधायी शक्ति
    - 2.1.2.5.1.5. अध्यादेष जारी करने की शक्ति
    - 2.1.2.5.1.6. क्षमादान की शक्ति
  - 2.1.2.5.2. संकटकालीन शक्तियॉ

2.1.3. प्रधानमंत्री
- 2.1.3.1. प्रधानमंत्री का चयन एवं नियुक्ति
- 2.1.3.2. प्रधान मंत्री की शक्तियॉ
- 2.1.3.3. प्रधान मंत्री और मंत्रि परिषद
- 2.1.3.4. प्रधानमंत्री और संसद
- 2.1.3.5. प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति
- 2.1.3.6. प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें
- 2.1.3.7. प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति

2.1.4. मंत्रि परिषद
- 2.1.4.1. मंत्रि परिषद और मंत्रि मण्डल
- 2.1.4.2. मन्त्रिमण्डल की शक्तियॉ और कार्य
  - 2.1.4.2.1. राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना
  - 2.1.4.2.2. राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियन्त्रण
  - 2.1.4.2.3. मंत्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य
  - 2.1.4.2.4. वित्तीय कार्य
  - 2.1.4.2.5. वैदेषिक सम्बन्धों पर नियंत्रण
  - 2.1.4.2.6. नियुक्ति सम्बन्धी कार्य

2.1.5. उपसंहार
2.1.6. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
2.1.7. लघु उत्तरीय प्रष्न
2.1.8. बहु विकल्पीय प्रष्न

2.1.9. संदर्भ सूची

2.1.0 उद्देष्य

इस पाठ का उद्देष्य विद्यार्थियों को केन्द्रीय स्तर पर मुख्य कार्यपालिका के अंगो, यथा राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद से अवगत कराना है इस इकाई के अध्ययन के पष्चात आप राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद के सम्बन्धित समस्त प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकेगे।

2.1.1. प्रस्तावना

भारतीय संविधान में भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की गइ हें अमेरिका में सरकार का स्वरूप अध्याक्षात्मक है। संसदीय सरकार में राष्ट्रपति सांविधानिक अध्यक्ष होता है, लेकिन वास्तविक शक्ति मंत्रि परिषद में हिहित हेाती है, जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होता है। मंत्रि परिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रि परिषद के सदस्य जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते है। यद्यपि अनुच्छेद 53 द्वारा संघ की कार्यपालिका शक्ति उप राष्ट्रपति में निहित की कई है, लेकिन अनुच्छेद 74 में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह उसका प्रयोग मंत्रि–परिषद की सहायता एंव मंत्रणा से ही करेगा। इसके विपरीत अमेरिका की अध्यक्षात्मक प्रणाली में राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका का अधिकारी होता है। उसका निर्वाचन सीधे जनता द्वारा किया जाता है। वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है। राष्ट्रपति स्वयं अपने मंत्रिमण्डल के मंत्रियों को नियुक्त कर सकता है और वह उन्हें पदच्युत भी कर सकता है।

राष्ट्रपति का पद आपातकालीन प्रकाष व्यवस्था की भॉति है। संकट की स्थिति में इसकी भूमिका स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और संकट समाप्त हो जाने पर इसकी भूमिका स्वतः समाप्त हो जाती है।''

–भूतपूर्व राष्ट्रपति, आर. वेंकटरमण

2.1.2. राष्ट्रपति

भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा गया है। यद्यपि कार्यपालिका के प्रधान का यह नामकरण अमरीकी संविधान के समान है, लेकिन भारतीय राष्ट्रपति के कार्य और शक्तियॉ अमरीकी राष्ट्रपति के समान नहीं है। अमरीका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान ही वास्तविक प्रधान हेाता है, लेकिन भारत में ब्रिटेनजैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका का एक वैधानिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक प्रधान। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उसकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के स्थान पर ब्रिटिष सम्राट जैसी होती है।

2.1.2.1. राष्ट्रपति पद की योग्यताएं :– अनुच्छेद 52 यह उपबन्धित करता है कि भारत का एक राष्ट्रपति होता है। अनु. 53 यह कहता है कि संघ क कार्यपालिका

शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी। और यह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारी के द्वारा करेगा।

अनुच्छेद 58 के अनुसार राष्ट्रपति के पद के लिये पात्र होने वाले व्यक्ति की निम्नलिखित अर्हताएँ रखनी चाहिये।

1) वह भारत का नागरिक हो।
2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3) वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

राष्ट्रपति भारतीय संसद अथवा राज्यों के विधान मण्डल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि निर्वाचन के पूर्व वह इनका सदस्य है तो निर्वाचन की तिथि से उसका ध्यान उस सभा से रिक्त समझा जायेगा। राष्ट्रपति अपेन कार्यकाल की अवधि में कोई अन्य वेतनभोगी पद ग्रहण नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त ऐसा कोई भी व्यक्ति जो भारत सरकार या किसी स्थानीय सरकार के अन्तर्गत पदाधिकारी हो, राष्ट्रपति के पद का उम्मीदवार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में संघ के राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल ओर संघ अथवा राज्य के मंत्रियों को सरकारी अधिकारी नहीं समझा जाएगा।

भारतीय संघ के इस सर्वोच्च पद के लिये इतनी कम योग्यताओं का होना आष्चर्य का विषय हो सकात है, लेकिन संविधान–निर्माताओं ने जान–बूझकर ऐसा इसलिए किया है कि भारत का प्रत्येक नागरिक इस पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सक। वह व्यवस्था जनतंत्रात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल है। व्यवहार में इस पद पर केवल वहीं व्यक्ति निर्वाचित हो सकेगा, जिसे देष में बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हो।

2.1.2.2. राष्ट्रपति का निर्वाचन :– राष्ट्रपति के चुनाव के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है और यह चुनाव एकल संक्रमणीय मत की पद्धति के आधार पर होता है। यह पद्धति इस प्रकार है–

अप्रत्यक्ष निर्वाचन – राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे निर्वाचक–मण्डल द्वारा किया जाएगा जिसमें 1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, 2) राज्य विधान सभाओं और 70वे संवैधानिक संषोधन (1192) के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होगे। राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ–साथ राज्यों की विधान सभाओं और अब संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं को इसलिए सम्मिलित किया गया है कि राष्ट्रपति न केवल केन्द्रीय शासन वरन् सम्पूर्ण भारतीय संघ का प्रधान होता है।

एकल संक्रमणीय मत पद्धति :– संसद तथा राज्यों एवं संघीय क्षत्रों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनसार 'एकल संक्रमणीय प्रणाली' द्वारा होगा। इस चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होगा और चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार के लिये 'न्यूतमक कोटा' प्राप्त करना आवष्यक होगा।

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या}} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गई है ताकि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर एक ही व्यक्ति को राष्ट्रपति का पद प्राप्त हो सके।

भारत के राष्ट्रपति को जिस 'निर्वाचक मण्डल' द्वारा निर्वाचित किया है उस निर्वाचक मण्डल के सदस्य है– 1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, 2) राज्य विधानसभाओं और संघीय क्षेत्रो की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य।

2.1.2.3. कार्यकाल :– राष्ट्रपति का काल पॉच वर्ष निष्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के अन्तर्गत रिक्त हो जाए तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का चुनाव पुनः पॉच वर्ष की सम्पूर्ण अवधि के लिए होता है न कि शेष अवधि के लिए।

2.1.2.4. महाभियोग :– अनु. 61 के अनुसार राष्ट्रपति को संविधान का उल्लंधन किये जाने पर महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। अभियोग लगाने के लिए अभियोग वाले सदन की समस्त संख्या के 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षर होना आवष्यक है। अभियोग लागने के 14 दिन बाद यदि वह उसी सदन के 2/3 सदस्यों द्वारा स्वीकृत हो जाए, तो उसके उपरान्त वह भारतीय संसद के द्वितीय सदन में भेज दिया जाता है। यदि दूसरे सदन द्वारा भी कुल सदस्यों के कम–से–कम 2/3 बहुत से महाभियेाग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाए और राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाए गए आरोप जॉच द्वारा सिद्ध हो जाए, तो प्रसताव के स्वीकृत होने के तिथि से राष्ट्रपति को पदच्युत समझा जाएगा । राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह जॉच के दौरान सदन में स्वय उपस्थित होकर या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा महाभियोग की जॉच में हिस्सा ले।

2.1.2.5. राष्ट्रपति के कार्य एवं शक्तियॉ :– भारत के राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं और इस कारण भारत के राष्ट्रपति को अनेक प्रकार की शक्तियॉ प्रदान की गई है। मुख्यतः इनको दो भागों में बॉटा जा सकता है।

1) सामान्यकालीन शक्तियां
2) संकटकालीन शक्तियां

2.1.2.5.1. सामान्यकालीन शक्तियॉ– कार्यपालिका शक्ति भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका–कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की जाती है (अनु. 77) । वह देष के सभी उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करता है, जेसे–प्रधानमंत्री, प्रधानमंत्री के सलाह से अन्य मंत्रियों, उच्चतम तथा उचच नयायालयों के न्यायाधीषों राज्यों के

राज्यपालों, भारत के महा न्यायवादी भारत के नियंत्रक महालेखा–परीक्षक, लोक सेवा के अध्यक्ष तथा सदस्यों, आयोग तथा आफिषियल कमीषन के सदस्यों, अनुसूचित तथा आदिम जातियों के लिये विषेष अधिकार, अनुसूचित एवं पिडछे वर्गों के लिये आयेाग आदि। उसे इन अधिकारयों को पदच्युति का भी अधिकार है, किन्तु उस शक्ति का प्रयोग वह मंत्रि परिषद की मंत्रणा से ही करेगा।

2.1.2.5.1.2. सैनिक शक्ति :– राष्ट्रपति देष के प्रतिरक्षा बलों का सर्वोच्च सेनापति है। उसे युद्ध घोषित करने तथा शक्ति स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु इस शक्ति के प्रयोग को संसद विधि द्वारा विनियमित करती है। इस प्रकार राष्ट्रपति की सैनिक–शक्ति उसकी कार्यपालिका शक्ति के अधीन है जिसका प्रयोग वह मंत्रि–परिषद की मंत्रणा से करता है।

2.1.2.5.1.3. कूटनीतिक शक्ति :– राष्ट्राध्यक्ष हाने के नाते राष्ट्रपति अन्य देषों के लिये राजदूतों व कूटनीतिक उन प्रतिनिधियों की नियुक्ति करता है और अन्य प्रतिनिधियों का स्वागत करता है। विदेषें से सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते आदि राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं। किन्तु संन्धियॉ या समझौते संसद के अनुसर्मथन के उपरान्त ही आवद्धकर होते हैं।

2.1.2.5.1.4. विधायी शक्ति :– राष्ट्रपति संसद के सत्र को आहूत करता है और सत्रावसान करता है, किन्तु अनु. 85 (1) के अनुसार संसद के एक सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच छः मास से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में राष्ट्रपति दोनों सदनों के संयुक्त सत्र को सम्बोधित करता है जिसमें वह सरकार को सामान्य नीतियों और भावी कार्यक्रमों का विवरण देता है (अनु. 87 (1) । संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेजा जाता है। उसकी अनुमति के उपरान्त ही वह अधिनियम बनाता है। यदि कोई विधयेक धन–विधेयक नहीं है तो राष्ट्रपति उसे पुनर्विचारार्थ लौटा सकता है। यदि विधेयक संसद में संषोध सहित या संषोधन रहित पुनः पारित हो जाता है तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति 12 ऐसे व्यक्तियों को राज्य सभा में नाम निर्देषित करता है जो साहित्य, कला, विज्ञान और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में विषेष ज्ञान या अनुभव रखते हैं।

2.1.2.5.1.5. अध्यादेष जारी करने की शक्ति :– जिस समय भारत की संसद का अधिवेषन नहीं हो रहा हो, उस समय राष्ट्रपति को अध्यादेष जारी करने का अधिकार प्राप्त है। इन अध्यादेषों को संसद द्वारा पास किए गए अधिनियमों के समान ही मान्यता एवं प्रभाव प्राप्त होगा। ये अध्यादेष संसद का अधिवेषन प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक लागू रहेंगे, लेकिन यदि संसद चाहे तो उसके द्वारा इस अवधि के पूर्व भी इन अध्यादेषों को समाप्त किया जा सकता है। लोकसभा सचिवालय द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार कुल अध्यादेषों के आधे से भी अधिक पिदले 20 साल में जारी किए गए।

2.1.2.5.1.6. क्षमादान की शक्ति– (अनु. 72) अनु. 72 राष्ट्रपति को किसी अपराध के लिए सिद्ध दोष ठहारा दिये गये किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम या परिहार अथवा दण्डादेष के निलम्बन, परिहार या लघुकरण करने की शक्ति प्रदान करता है।

2.1.2.5.2. आपातकालीन/संकटकालीन शक्तियॉ– (अनु. 352–360) – यदि राष्ट्रपति को यह ज्ञात हो जाए कि भारत को या उसके किसी भाग की सुरक्षा को युद्ध या बाह्य आक्रमण या सषस्त्र विद्रोह से गम्भीर संकट है या राज्यपाल के प्रतिवेदन पर जबकि राज्य की सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलायी जा सकती हैं, या ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें भारत की साख या वित्तीय स्थायित्व को खतरा पैदा हो गया है तो वह आपात् की उद्घोषणा कर सकता है।

इस प्रकार तीन प्रकार की आपात् की उद्घोषणा क उपबन्ध हैं–
क) युद्ध या व्राह्य आक्रमण। सषस्त्र विद्रोह से उत्पन्न आपात,
ख) राज्यें में संविधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न हाने वाला आपात्
ग) वित्तीय आपात।

संविधान सभा में राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा है कि–

''भारतीय संविधान में राष्ट्रपति का वही स्थान है जो इग्लैण्ड के संविधान में वहॉ के सम्राट का है। वह राष्ट्र का प्रधान होता है किन्तु राष्ट्र का शासक नहीं।''

2.1.3. प्रधानमंत्री

ब्रिटिष संविधान में प्रधानमंत्री का पद परम्परा पर आधारित है लेकिन भारत में प्रधानमंत्री पद को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की गई है। किन्तु भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री पद का संक्षेप में ही संविधान के अनु. 74,75 तथा 78 में उल्लेख किया गया है। अनु. 74 में कहा गया है कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्ष देने के लिए एक मंत्र परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।

अनु. 75 में कहा गया है कि ''प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी और वह प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। ''अन्त में अनु. 78 में राष्ट्रपति के साथ व्यवहार के विषय में प्रधानमंत्री के तीन कर्त्तव्य बताए गये हैं। संविधान के ये संक्षिप्त प्रावधान न तो प्रधानमंत्री की नियुक्ति की पद्धति को स्पष्ट कर पाते हैं और न ही उस महत्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर पातें हैं जो देष की राज –व्यवस्था में प्रधानमंत्री को प्राप्त है। वास्तव में, प्रधानमंत्री पद से सम्बन्धित समस्त अध्ययन सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार पर ही आधारित हो सकता है।

2.1.3.1. प्रधानमंत्री का चयन व नियुक्ति :– प्रधानमंत्री का चयन उस दल द्वारा किया जाता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो और फिर उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इस प्रकार दल द्वारा चयन पहले होता है और फिर उसकी नियुक्ति बाद में।

1950 से लेकर आज तक प्रधानमंत्री के चयन और नियुक्ति के प्रसंग में चार प्रकार की स्थितियॉ रहीं हैं। ये अग्र प्रकार हैं:

- स्वयं जनता द्वारा प्रधानमंत्री का चयन,
- आम सहमति के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन,
- लोक सभा के बहुमत दल या बहुमत वाले गठबन्धन में नेता पद के लिए चुनाव संघर्ष और प्रधानमंत्री का चयन।
- लोक सभा में दलीय स्थिति स्पष्ट न होने आकस्मिक रूप से प्रधानमंत्री का पद रिक्त हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा स्वविवेक के आधार पर प्रधानमंत्री का चयन।

  प्रधानमंत्री के निर्वाचन का उसकी भूमिका और स्थिति पर महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि प्रधानमंत्री पदधारी अपना पद अपनी ही राजनीतिक शक्ति और जनता के सीधे समर्थन के बाल पर प्राप्त करता है, तो आत्म–विष्वास के साथ शासन प्रमुख के रूप में कार्य करने में समर्थ हेाता है, लेकिन जब वह अपना पद अन्य तत्वों के समर्थन और सहयोग के बल पर प्राप्त करता है, तो प्रधानमंत्री पद की स्थिति स्वाभाविक रूप से निर्बल हो जाती है।

2.1.3.2. प्रधानमंत्री की शक्तियॉ और विविध रूपों मे उसकी भूमिका :– भारतीय राज्य व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति वहीं है जो ब्रिटेन की राज व्यवस्था में वहां के प्रधानमंत्री की है। द्वितीय विष्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की संसदीय या मंत्रिमण्डल व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ है कि मंत्रिमण्डल और संसद पर प्रधानमंत्री की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गई है। भारतीय प्रधानमंत्री की शक्तियेां और उनकी भूमिका का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

2.1.3.3. प्रधानमंत्री और मंत्रपरिषद: प्रधानमंत्री का प्रथम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिपषिद का निर्माण करना है। इस सम्बन्ध में अनु. 75 में यही कहा गया है कि, ''अन्य मंत्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री के परामर्ष पर राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी।'' वस्तुस्थित यह है कि राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति केवल एक औपचारिक है और इस सम्बध में विभागों के उल्लेख सहित जो नाम प्रधानमंत्री के द्वारा राष्ट्रपति के सामने रखे जाते हैं, राष्ट्रपति के द्वारा उन्हें स्वीकार कर उन्हें उनके नाम के आगे अंकित विभागों का मंत्री घोषित कर दिया जाता है। प्रधानमंत्री को अपनी मंत्रि परिषद का निर्माण करते समय प्रषासनिक, राजनीतिक, क्षेत्रीय, धार्मिक और अन्य बातों का ध्यान में रखना होता है तथा कुछ उदाहरणों में प्रधानमंत्री किन्हीं विषेष व्यकितयों को मंत्रि–परिषद में लेने तथा उन्हें उनकी इच्छानुसार विभाग देन के लिए बाध्य होता है।

एक बार मंत्रिपरिषद का निर्माण हो जाने के बाद प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के सदस्यों के विभागों को परिवर्तित करने के सम्बन्ध में लगभग पूर्ण स्वतंत्र है। डॉ. अम्बेडकर ने ठीक ही कहा था कि, ''प्रधानमंत्री वास्तव में मंत्रिमण्डल भवन के वृत्तखण्ड की मुख्य षिला है और जब तक हम इस पराधिकारी (प्रधानमंत्री) को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मंत्रियों की नियुक्ति या पदच्युति कर सके, तब तक मंत्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।''

प्रधानमंत्री न केवल मंत्रिपरिषद के निर्माण और अन्त, वरन उसके संचालन में भी केन्द्रीय स्थिति रखता है। यद्यपि मंत्रिमण्डल में विभिन्न बातों का निर्णय मतदान के आधार पर होता है, लेकिन व्यवहार में प्रधानमंत्री का परामर्ष ही निर्णायक होता हैं प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है और मंत्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही का संचालन करता है।

2.1.3.4. प्रधानमंत्री और संसद :– संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री का दोहरा व्यक्तित्व प्राप्त होता है। एक ओर वह मंत्रिपरिषद का प्रधान है तथा दूसरी ओर वह लोकसभा का नेता भी होता है। मंत्रिपरिषद का कोई अन्य सदस्य प्रधानमंत्री की भॉति संसद में समस्त मंत्रिमण्डल का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। शासन की नीति से सम्बन्धित अन्तिम तथा अधिकृत भाषण प्रधानमंत्री का ही होता है।

व्यवस्थापन की समस्त कार्यवाही के संचालन में प्रधानमंत्री ही नेतृत्व प्रदान करता है। वार्षिक बजट सहित सभी सरकारी विधेयक प्रधानमंत्री के निर्देषानुसार ही तैयार किये जाते हैं। प्रधानमंत्री इस बात का निर्णय करता है कि शासन की नीति कार्यरूप में परिणत करने के लिये किन कानूनों का निर्माण किये जाने की आवष्कयता है। महत्वपूर्ण कानूनों के लिये विधेयक स्वयं प्रधानमंत्री या प्रधानमंत्री के सहयोगियों द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं। दलीय सचेतक द्वारा वह अपने दल के सदस्येां को आवष्यक आदेष देता है और केवल षकधर के शब्दों में ''सभी विधेयकों के भाग्य का निर्णय प्रधानमंत्री की इच्छानुसार ही होता है।'' ससंद का अधिवेषन बुलाने और स्थगित करने का कार्य राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्ष के अनुसार ही करता है और प्रधानमंत्री की एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण शक्ति लोकसभा को विघटित करने की भी है। यद्यपि औपचारिक रूप से यह कार्य राष्ट्रपति का है, लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री की इच्छानुसार ही कार्य कर सकता है।

2.1.3.5. प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति :– संविधान ने प्रधानमंत्री को मंत्रिमण्डल तथा राष्ट्रपति के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वालो पदाधिकारी की भूमिका प्रदान की है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 78 में प्रधानमंत्री के 3 कर्त्तव्य बताये गये हैंः–

- संघ के प्रषासन तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित विधेयकों के विषय में मंत्रिपरिषद के निर्णयों की राष्ट्रपति को सूचना देना,
- संघ के प्रषासन से सम्बन्ध में रखने वाले मामलों तथा कानून निर्माण से सम्बन्धित प्रस्तावों के बारे में राष्ट्रपति को ऐसी सूचना देना जिसे वह मांगे,

- यदि राष्ट्रपति ऐसा चाहे, तो मंत्रिपरिषद के विचार के लिए कोई ऐसा मामला रखना जिस पर कोई मंत्री अपना निर्णय ले चुका है, परन्तु जिस पर मंत्रिपरिषद ने अब तक कोई निर्णय नहीं लिया है।

सार्वजनिक महत्व के मामलों पर राष्ट्र के प्रधान से केवल प्रधानमंत्री के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। कोई भी अन्य मंत्री प्रधानमंत्री की अनुमति से ही राष्ट्रपति से भेंट कर सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के बीच जो सम्बन्ध रहे, यदि उनका अध्ययन किया जाए, तो यह नितान्त स्पस्ट हो जाता है कि प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति को एक संवैधानिक प्रधान की भूमिका तक सीमित रखा है।

2.1.3.6. प्रधानमंत्री और राज्य सरकारें :– भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारेां के सम्बन्ध में भी प्रधानमंत्री की भूतिका बहुत अधिक महत्वपर्ण है। प्रधानमंत्री को राज्य सरकारों पर नियंत्रण प्राप्त है, उसका सबसे प्रमुख कारण प्रधानमंत्री पदधारी का अत्यन्त प्रभावषाली व्यक्तित्व तो ही अन्य कुछ संस्थागत कारण भी थे जिनके आधार पर प्रधानमंत्री का राज्य सरकारेां पर नियंत्रण स्थापित हो गया। ये तत्व इस प्रकार हैं–

- केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल की भूमिका और राज्यपाल द्वारा समय–समय पर राज्य की संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।
- भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356, जिसके आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत केन्द्र में पदारूढ़ सभी सरकरों द्वारा इस अनुच्छेद का दुरूपयोग किया गया है।
- राज्य सरकार के विरूद्ध भ्रष्टाचार के आरोप पत्र प्राप्त होने पर केन्द्र को जॉच आयोग स्थापित करने या ना करने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त होना।
- भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारेां की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता।

पिछले 35 वर्षो का राजनीतिक अनुभव बतलाता है कि प्रधानमंत्री द्वारा राज्य सरकारों (अपने दल और विपक्ष शासित) के प्रसग में अपनी शक्तियों का प्रयोग संयमित रूप में ही किया जाना चाहिए।

- इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी भारतीय प्रधानमंत्री का स्थान अत्यन्त महत्वपर्ण है। चाहे विदेष विभाग प्रधानमंत्री के हाथों में ना हो, फिर भी अन्तिम रूप में विदेष नीति का निर्धारण प्रधानमंत्री के द्वारा ही किया जाता है। इस सम्बन्ध में उसके शब्द ही अन्तिम एवं अधिकृत माने जाते हैं। वैदेषिक सम्बन्धों का संचालन तत्परता के साथ कार्यवाही और अनेक बार गुप्तता की मांग करता है। अतः इस कार्य में प्रधानमंत्री की अपने ही विवेक के आधार पर महत्वूर्ण निर्णय लेने होते है।

- संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है, व्यवहार में उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति स्वविवेक से नहीं करता, वरन् प्रधानमंत्री के परामर्ष से ही करता है। प्रधानमंत्री के हाथ में कृपा और अनुग्रह की इतनी व्यापक शक्तियां होने के कारण हर कोई प्रधानमंत्री की कृपा प्राप्त होने के लिये लालायित रहता है। कृपा की शक्तियों के परिणामस्वरूप समस्त शासन व्यवस्था पर प्रधानमंत्री का नियंत्रण बहुत अधिक मजबूत हो जाता है।

2.1.3.7. प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति :– प्रधानमंत्री की शक्तियां अपार एवं असीमित है। समय, स्थिति एवं व्यक्तित्व के अनुसार उसकी स्थिति घटती–बढ़ती रहती है। प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति प्रमुख रूप से निम्न बातों पर निर्भर करती है:–

प्रथमतः और सर्वाधिक महत्वपूण्र तत्व यह हे कि प्रधानमंत्री के दल को लोकसभा और राज्यसभा विषेषतया लोक सभा में कैसी स्थिति प्राप्त है। यदि प्रधानमंत्री मिली जुली सरकार या बाहरी समर्थन पर टिकी अल्पमत सरकार का नेतृत्व कर रहा है तो प्रधानमंत्री की स्थिति कमजोर होती है और प्रधानमंत्री पदधारी तथा प्रधानमंत्री पद पर निरन्तर दबाव पड़ते हैं एकदलीय सरकार का प्रधानमंत्री की शासन के वास्तविक प्रधान के रूप में कार्य कर पाता है।

द्वितीयतः प्रधानमंत्री की स्थिति बहुत अधिक सीमा तक उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। लॉर्ड आक्सफोर्ड तथा एस्क्विय ने ब्रिटिष प्रधानमंत्री के पद के सम्बन्ध में कहा भी है कि, ''प्रधानमंत्री का पद वैसा ही बन जाता है, जैसा कि उस पद का अधिकारी उसको बनाना चाहता है।'' स्वाभाविक रूप से एक प्रभावषाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति शक्तिषाली प्रधानमंत्री के रूप में और निर्बल व्यक्तित्व एक कमजोर प्रधानमंत्री के रूप में करता है।

तृतीयतः प्रधानमंत्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि अपने राजनीतिक दल या अपने राजनीतिक गठबन्धन में उसे किस प्रकार की स्थिति प्राप्त है। अपने राजनीतिक दल में वह निर्विवाद नेता होने पर उसकी स्थिति पर्याप्त शक्तिषाली हो जाती है, लेकिन यदि उसके दल या दलीय गठबन्धन में ही उसके नेतृत्व को चुनौती दी जाती है, तो उसकी स्थिति कमजोर हो जाती है। एक प्रतिभाषाली व्यक्ति के द्वारा भी उसी समय तक शक्तिषाली प्रधानमंत्री के रूप में कार्य किया जा सकता है, जब तक उसे अपने राजनीतिक दल में निर्विवाद नेतृत्व प्राप्त हो।

चतुर्थत : प्रधानमंत्री की शक्ति तत्कालीन स्थिति पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गम्भीर, स्थिति होने पर प्रधानमंत्री अधिक शक्तिषाली हो जाता है। लेकिन सामान्य स्थिति में वह अधिक शक्तिषाली नहीं हो पाता।

पंचमः–प्रधानमंत्री पदधारी को घरेलू और वैदेषिक क्षेत्र की व्यवहारिक राजनीति में प्राप्त सफलतांए–असफलतांए प्रधानमंत्री की स्थिति को सबल या दुर्बल बनाती हैं।

2.1.4. मंत्रि–परिषद

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री और मंत्रि–परिषद की नियुक्ति तथा स्थिति के सम्बन्ध में बहुत कम उल्लेख किया गया है और अधिकांष में इस प्रकार की व्यवस्था परम्पराओं पर छोड़ दी गई हैं मंत्रिमण्डल में एक प्रधानमंत्री तथा आवष्यकतानुसार अन्य मंत्री होती हैं। मंत्रियों की संख्या संविधान के द्वारा निष्चित नहीं की गई और व्यवहार में मंत्रिमण्डल (Cabinet) के सदस्यों की संख्या विभिन्न समयों पर 12 से लेकर 25 तक रही है। संविधान के अनुच्छेद 75 के विभिन्न भागों में मंत्रिपरिषद की रचना के सम्बन्ध में केवल निम्न बातों का उल्लेख किया गया है।

- प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रपति अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा।
- मंत्रिगण राष्ट्रपति के प्रसाद–पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे।
- मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी।
- प्रत्येक मंत्री को अपने पद धारण करने के पूर्व राष्ट्रपति के सामने अपने पद और गोपनीयता की शपथ लेनी होगीं
- यदि कोई मंत्री अपना पद धारण करने के 6 माह बाद तक संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सका तो उसे मंत्रि परिषद से त्याग–पत्र देना होगा।
- मंत्रियों को वे सब वेतन व भत्ते प्राप्त होंगे, जो समय–समय पर संसद विधि द्वारा निर्धारित करें।

मंत्रिपरिषद के गठन के सम्बन्ध में केवल ये ही कुछ औपचारिक व्यवस्थाएं हैं और इन औपचारिक व्यवस्थाओं से यह पता नहीं चलता कि वास्तव में मंत्रिपरिषद का गठन किस प्रकार होता है। व्यवहार में मंत्रिपरिषद का गठन एक बहुत अधिक कठिन व जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक बातों को ध्यान में रखना होता है। मंत्रियों को चुनते समय शासक दल में विभिन्न सदस्यों की स्थिति, राष्ट्र के विभिन्न समुदायों तथा भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व संसद के दोनों सदनों को उचित प्रतिनिधित्व व विभिन्न अवस्था वाले और विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर विचार करना होता है।

2.1.4.1. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल (कैबिनेट) :– साधारणतया लोग मंत्रिपरिषद तथा मंत्रिमण्डल को एक ही संस्था माप लेते हैं, लेकिन इन दोनों में काफी अन्तर है। मंत्रिपरिषद में राजनीतिक कार्यपालिका के सभी सदस्य होते हैं, और इस कारण यह एक बड़ी संस्था है जिसमें लगभग 50–70 सदस्य हेाते हैं। इस मंत्रपरिषद में पांच स्तर के सदस्य होते हैं, जिसमें से केवल प्रथम स्तर के सदस्येां को सामूहिक रूप से कैबिनेट कहा जाता है।

मंत्रिपरिष्द में तीन श्रेणी के मंत्री होते हैं– (i) कैबिनेट स्तर के मंत्री, (ii) राज्यमंत्री और (iii) उपमंत्री/कैबिनेट मंत्री अपने विभागों के अध्यक्ष हेाते हैं। सभी कैबिनेट मंत्री मंत्रिपरिषद के सदस्य होते हैं। केवल कुछ अग्रमत और प्रमुख मंत्रीगण ही मंत्रिमण्डल के सदस्य हेाते हैं। मंत्रिमण्डल (cabonet), मंत्रिपरिषद (Council of Ministers) की एक छोटी इकाई है। हमारे संविधान में मंत्रिमण्डल शब्दका कहीं

उल्लेख नहीं है, किन्तु ब्रिटेन की परम्परा के अनुसार हमारे यहॉ भी मंत्रिमण्डल का अस्तित्व चला आ रहा है और वह हमारी संविधानिक प्रणाली का एक आवष्यक अंग बन गया है। मंत्रिमण्डल नीति–निर्धारण की सर्वोच्च संस्था है। कैबिनेट की बैठक में कभी भी सभी मंत्रिगण उपस्थिति नहीं होते हैं। सभी वरिष्ठ मंत्री कैबिनेट के सदस्य होते हैं। राज्यमंत्री की परम्परा ब्रिटिष संविधान से ली गई है। वे एक तरह से कैबिनेट स्तर के ही होते हैं आर अपने विभागों के स्वतंत्र रूप से उत्तरदायी होते हैं और वेतन भी उसके बराबर ही पाते हैं। उपमंत्री कैबिनेट मंत्री से कम वेतन पाते हैं। और अपने विभागों के स्वतंत्र रूप से अध्यक्ष नहीं होते हैं। उनका कार्य अपने कैबिनेट मंत्रियों की सहायता करना होता है। मंत्रियो के विभागों का आवंटन प्रधानमंत्री करता है। मंत्रिपरिषद के अन्य सदस्य राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की सलाह पर नियुक्त किये जाते हैं। और उसी के द्वारा पदच्युत किये जाते हैं।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद एक बृहत् संस्था है जिसमें सभी श्रेणियों के मंत्री सम्मिलित रहते हैं, लेकिन मंत्रिमण्डल (कैबिनेट) मंत्रिपरिषद के अन्तर्गत एक छेटा सा समूह होता है, जिसमें सिर्फ प्रथम श्रेणी के मंत्री होते हैं, जो विभागों के प्रधान होते हैं। और जिनके द्वारा सामूहिक रूप से सम्पूर्ण प्रषासनिक नीति का निर्धारण किया जाता है। रेम्जे म्योर ने मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध में कहा है कि, ''यह मंत्रिपरिषद का हृदय है, शासन का परिचालन यंत्र है जिसमें सभी महत्वपूर्ण विभागों के राजनीतिक अधिकारी सम्मिलित रहते हैं।'' इसी प्रकार मंत्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मंत्रिपरिषद का सदस्य होता है, लेकिन मंत्रिमण्डल एक ऐसी इकाई है जिसके सदस्य मंत्रिपरिषद के केवल कुछ ही लोग होते हैं। इस प्रकार मंत्रिमण्डल या कैबिनेट मंत्रिपरिषद का भीतरी चक्र है, यह मंत्रिपरिषद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आन्तरिक समिति के रूप में होता है।

2.1.4.2. मंत्रिमण्डल की शक्तियां और कार्य :– मंत्रिमण्डल को ब्रिटिष शासन पद्धति की भॉति भारतीय शासन प्रणाली का हृदय कहा जा सकता है। सर जॉन मेरियट के शब्दों में मंत्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक यंत्र है। ग्लैउस्टन का कहना है कि मंत्रिमण्उल वह सूर्य पिण्ड है जिसके चारों ओर अन्य पिण्ड घूमते हैं। भारत में मंत्रिमण्डल के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

2.1.4.2.1. राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना :– मंत्रिमण्डल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। मंत्रिमण्डल यह निष्चय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रषासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेषिक क्षेत्र में दूसरे देषों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनाई जाएगी। प्रषासनिक नियमों का निर्माण भी कैबिनेट ही करती है। इस प्रकार कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक मंत्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है।

2.1.4.2.2. राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण :– मंत्रिमण्डल ही सरकार की नीति को कार्यान्वित करने के उद्देष्य से विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बांधता है। व्यवहारतः राष्ट्रपति के अधिकारों का प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है, इसलिए युद्ध शक्ति या वैदेषिक नीति से सम्बन्धित प्रष्नों का निर्णय करता है। अध्यादेष

जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है, लेकिन व्यवहार में इसका प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है। इस प्रकार मंत्रिमण्डल देष की सर्वोच्च कार्यपालिका तथा राष्ट्रीय नीति का निर्देषक होता है।

2.1.4.2.3. मंत्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य :– मंत्रिमण्डल विभिन्न विभागों में समन्वयकारी कार्य स्थापित करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि मंत्रिमण्डल के समस्त विभागों में नीति व अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न न हो तथा उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाए। विभिन्न विभागों के कार्यों मे समन्वय स्थापित करने के लिये ही वर्तमान समय में मंत्रिमण्डलीय समितियेां की स्थापना की गई है।

2.1.4.2.4. वित्तीय कार्य :– देष की आर्थिक नीति–निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी मंत्रिपरिषद का ही होता है। इस हेतु उसके द्वारा प्रत्येक वर्ष संसद के सामने देष के सम्भावित आय–व्यय का व्यौरा 'बजट' प्रसतुत किया जाता है। बजट मंत्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के आधार पर वित्तमंत्री तैयार करता है और वही उसे लोकसभा में प्रस्तुत करता है।

2.1.4.2.5. वैदेषिक सम्बन्धेां पर नियंत्रण :– कैबिनेट के द्वारा ही देष के वैदेषिक सम्बन्धों पर नियंत्रण रखा जाताा है। विदेषी राज्यों के अध्यक्षों या सरकारों के साथ समस्त वार्ताओं का संचालन प्रधानमंत्री या विदेष मंत्री या प्रधानमंत्री के किसी अन्य प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है और जब इस वार्ता के परिणामस्वरूप कोई सन्धि या समझौता हो जाता है तो संसद को उसके सम्बन्ध में सूचना दे दी जाती है। और यदि आवष्यकता हुई तो उसे संसद द्वारा स्वीकृति प्रदान करवा दी जाती है।

2.1.4.2.6. नियुक्ति सम्बन्धी कार्य :–संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गई है। व्यवहार में इन पदाधिकरियों की नियुक्ति मंत्रमण्डल द्वारा ही की जाती है। मंत्रिमण्डल के परामर्ष से ही संसद के दोनों सदनों के मनोनीति सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीष, उच्च न्यायालय के न्यायाधीष, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक और सेना के सेनापतियेां की नियुक्ति मंत्रिमण्डल के परामर्ष से ही की जाती है।

वास्तव में, मंत्रिमण्डल बहुत अधिक शक्तिषाली होता है और देष की समस्त राजीनतिक तथा प्रषासनिक व्यवस्था पर उसका अधिकार होता है।

2.1.5. सारांष

संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन व्यवस्था अपनायी गई है और संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती है तथा कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होता है। उत्तरदायित्व के प्रसंग में संसद का आषय लोकसभा से होता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि मंत्रिमण्डल लोकसभा के अधीन है, वह उसकी इच्छानुसार ही

कार्य करेगा और मंत्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकेगा, जब तक उसे लोकसभा के बहुमत का विष्वास प्राप्त हो।

यद्यपि संविधान राष्ट्रपति संविधान राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष के रूप देष का सर्वोच्च आसन प्रदान करता हो, किन्तु वह वास्तव में नाममात्र का शासक होता है। उसके नाम पर विभिन्न शक्तियों एवं अधिकारों का कार्यान्वयन प्रधानमंत्री व मंत्रि–परिषद करता है। संविधान स्पष्ट शब्दों में मंत्रि–परिषद का परामर्ष मानने के लिए बाध्य नहीं करता, किन्तु फिर भी संविधान में प्रयुक्त वाक्यांषें से यह स्पष्ट है कि उसे ऐसा करना ही है।

प्रधानमंत्री देष का सर्वोच्च नेता और सर्वोच्च शासक होता है। सिद्धान्त रूप में ना सही लेकिन व्यवहार से देष का समस्त शासन उसी के इच्छानुसार संचालित होता है। वह व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है। मंत्रिपरिषद में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। कभी–कभी परिस्थितियोंवष भले ही उसे अपने सहयोगियों के सामने झुकना पड़े लेकिन अन्तिम रूप में प्रधानमंत्री के निर्णय ही सर्वमान्य होते हैं। देष की जनता हो या संसद राज्य सरकारें हो या प्रधानमंत्री का अपना राजनीतिक दल हर कोई नेतृत्व के लिए प्रधानमंत्री की ओर ही देखता है। व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमंत्री पदधारी व्यक्तियें ने इस पद की शक्तियों और सम्मान में बहुत अधिक वृद्धि की है।

2.1.6. दीर्ध उत्तरीय प्रष्न –

1) भारतीय राष्ट्रपति की शक्तियों एवं स्थिति का वर्णन कीजिए?
2) भारत का प्रधानमंत्री व्यवहारिक दृष्टि से कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का सर्व षक्तिषाली पदाधिकारी है। पक्ष या विपक्ष में अपने उत्तर के साथ उसके समर्थन का कारण दीजिए।
3) भारत के प्रधानमंत्री की शक्तियों एवं स्थिति का परीक्षण कीजिए।
4) भारतीय संघ में मंत्रिपरिषद् एवं मंत्रिमण्डल से आप क्या समेझते हैं?
5) भारत के प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के मध्य सम्बन्धों पर एक निबन्ध लिखिए।

2.1.7. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1. राष्ट्रपति का निर्वाचन
2. राष्ट्रपति की अध्यादेष जानी करने की शक्ति
3. प्रधानमंत्री का चयन एवं नियुक्ति
4. मंत्रिमण्डल की शक्तियॉ वं कार्य
5. प्रधानमंत्री की वास्तविक स्थिति।

2.1.8. बहु विकल्पीय प्रष्न –

1) राष्ट्रपति के खिलाफ महाभियोग प्रसताव पर सदन के कितने सदस्यों के हस्ताक्षर होने चाहिये?

(क) 1/2 (ख) 1/3
(ग) 1/4 (घ) 1/5

2) राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियॉ संविधान के किन उपबन्ध में दी गई हैं?

(क) 352–360 (ख) 354–364
(ग) 356–370 (घ) 360–370

3) राष्ट्रपति के चुनाव में शामिल सहते हैं।

(क) समस्त सांसद (ख) समस्त विधायक
(ग) समस्त सांसद एवं विधायक(घ) चुने हुए सांसद एवं विधायक

4) प्रधानमंत्री का चयन किसके द्वारा किया जाता है।

(क) राष्ट्रपति (ख) जनता
(ग) संसद (घ) जिस दल को लोक सभा में बहुत प्राप्त हो।

5) मंत्रिमण्डल में होते हैं–

(क) समस्त मंत्री (ख) कैबिनेट मंत्री
(ग) राज्य मंत्री (घ) उप मंत्री

2.1.9. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिषचन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

इकाई – 2 संरचना एवं प्रक्रियाः– राज्यपाल, मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद, राज्य विधायिका

इकाई की रूपरेखा :

2.2.0. उद्देष्य,
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. राज्यपाल
2.2.3. राज्यपाल की नियुक्ति
2.2.4. राज्यपाल नियुक्त होने के लिए योग्यताएँ
2.2.5. राज्यपाल की शक्तियॉ
    2.2.5.1. कार्य पालिका शक्तियॉ
    2.2.5.2. विधायी शक्तियॉ
    2.2.5.3. वित्तीय शक्तियॉ
    2.2.5.4. न्यायिक शक्तियॉ
    2.2.5.5. विविध शक्तियॉ
2.2.6. मुख्यमंत्री
    2.2.6.1. नियुक्ति
    2.2.6.2. मुख्यमंत्री की शक्तियां एवं कार्य
    2.2.6.3. मुख्य मंत्री की अन्य शक्तियॉ
2.2.7. मंत्रि परिषद,
2.2.8. मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति
2.2.9. मंत्रियों की योग्यता
2.2.10. मंत्रियों द्वारा शपथ ग्रहण
2.2.11. मंत्रियों की श्रेणियॉ
2.2.12. मंत्रिपरिषद का कार्यकाल
2.2.13. मंत्रि परिषद की शक्तियॉ एवं कार्य
    2.2.13.1. नीति निर्धारण
    2.2.13.2. उच्च पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्ष
    2.2.13.3. विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व
    2.2.13.4. कानून निर्माण का कार्यक्रम निष्चित करना
    2.2.13.5. बजट तैयार करना
2.2.14. राज्य विधायिका
    2.2.14.1. विधानसभा के सदस्यों की संख्या
    2.2.14.2. सदस्यों की योग्यताएँ एवं कार्यकाल
    2.2.14.3. विधान परिषद सदस्य संख्या एवं गठन
    2.2.14.4. विधान परिषद व विधानसभा की शक्तियों की तुलना
    2.2.14.5. साधारण विधेयक के सम्बन्ध में
    2.2.14.6. वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में
    2.2.14.7. कार्य पालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में
2.2.15. सारांष
2.2.16. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
2.2.17. लघु उत्तरीय प्रष्न

2.2.18. बहु विकल्पीय प्रष्न
2.2.19. संदर्भ सूची

2.3.0.उद्देष्य

इस इकाई के अध्ययन के पष्चात आप राज्य के संवैधानिक प्रमुख राज्यपाल के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

केन्द्र की तरह राज्येां में प्रषासन का स्वरूप संसदात्मक है। कार्यपालिका का प्रधान एक संवैधानिक प्रधान होता है, जिसे मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करना होता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्यपाल के पद का उपबन्ध किया गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा। दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल हो सकता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी। वह अपनी कार्यपालिका शक्तियों का उपयोग या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारयों के माध्यम से करता है। ''अधीनस्थ अधिकारियों, पत्रावली के अन्तर्गत 'मंत्रीगण' भी आते हैं। संविधान के अनुच्छेद 168 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमण्डल होगा जो राज्यपाल तथा कुछ राज्यों में दो सदन से तथा कुछ में एक सदन से मिलकर बनेगा। जिन राज्यों में दो सदन होंगे, उनके नाम क्रमषः विधानसभा तथा विधान परिषद् होंगे। प्रत्येक राज्य में जनता द्वारा वयस्क रू‍प से निर्वाचित प्रतिनिधयों का एक सदन होता है, विधानमण्डल के इस प्रथम सदन को विधानसभा कहते हैं। जिन राज्यों में विधानमण्डल का दूसरा सदन है, उसे 'विधानपरिषद्' कहते हैं। राज्यों का विधानमण्डल एकात्मक हो या द्विसदनात्मक, इस बात का निर्णय का अधिकार राज्य में निर्वाचित प्रतिनिधियेां और भारतीय संसद को ही है।

अनु. 169 के अनुसार संसद को अधिकार प्राप्त है कि राज्यों में विधान परिषद् की स्थापना का अन्त कर दे, यदि सम्बन्धित राज्य की विधानसभा अपने कुल बहुमत व उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से इस आषय का प्रस्ताव पास करें।

संविधान द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक शासन का स्वरूप होने के कारण राज्य की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रि परिषद् में निहित होती है जो कि राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार, ''उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल स्वविवेक हो कार्य करता है, अन्य कार्यों के निर्वाह में उसे सहायता प्रदान करने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा।''

2.2.2. राज्यपाल

सभी राज्यों में कार्यपालिका का अध्यक्ष राज्यपाल है। साधारणतः प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होता है किन्तु अनुच्छेद 153 के अधीन एक ही व्यक्ति दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है। राज्य की कार्यपालिका के सभी काम राज्यपाल के नाम से किए जाते हैं।

2.2.2.1.राज्यपाल की नियुक्ति :– राज्यपाल निर्वाचित नहीं होता। केन्द्र में कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है और वह निर्वाचित होता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। (अनुच्छेद 155) वह राष्ट्रपति के प्रसाद–पर्यन्त पद धारण करता है। एक प्रकार से वह केन्द्रीय सरकार का नामनिर्देषती होता है। किन्तु राज्यपाल का पद भारत सरकार के अधीन नियोजन नहीं है। यह एक स्वतंत्र संविधानिक पद है जो न तो संघ सरकार के नियंत्रण में है और न उसके अधीनस्थ है।

2.2.2.2. राज्यपाल नियुक्त होने के लिए योग्यताॅए :– संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र नहीं होगा जब तक– वह भारत का नागरिक ना हो, तथा, 35 वर्ष की आयु ना पूरी कर चुका हो।

अनु. 158 में राज्य के राज्यपाल पद के लिए कुछ शर्तों का भी उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं–

- राज्यपाल संसद अथवा किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है जो इन पदों को धारण किये है, तो राज्यपाल नियुक्त होने के दिन से संसद अथवा राज्य के विधान मण्डल से उसका पद रिक्त समझा जाएगा।
- राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।
- राज्यपाल को निःषुल्क निवास स्थान मिलेगा, तााि उसे वे सब वेतन भत्ते, उपलब्धियॉ तथा विषेषाधिकार प्राप्त होंगे, जिनहें संसद विधि द्वारा निर्धारित करें।

अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल को उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष के सामने शपथ लेनी होती है।

2.2.2.3. राज्यपाल की शक्तियॉ :– संविधान के द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियॉ प्रदान की गयी है। दुर्गादास बसु के शब्दों में, 'थोड़े में राज्यपाल की शक्तियॉ, राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिज्ञ, सैनिक और संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।'' राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

2.2.2.3.1. कार्यपालिका शक्तियॉ– राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्ष पर अन्य मंत्रियों की। वह महाधिवक्ता और लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यो की नियुक्ति करता है। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति से वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध में यह नियमों का निर्माण करता है। वह मंत्रियों को मध्य कार्यों का वितरण करता है। उसे मुख्यमंत्री से शासन से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध में सूचना

प्राप्त करने का अधिकार है। वह मुख्यमंत्री को किसी मंत्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल के सम्मुख विचार के लिए रखने का कह सकता है।

2.2.2.3.2. विधायी शक्तियॉ :– राज्यपाल व्यवस्थापिका का अधिवेषन बुलाना, स्थगित करना और व्यवस्थापिका के निम्न सदन विधानमण्डल को भंग करता है। आम चुनाव के बाद वह विधानमण्डल की पहली बैठक को सम्बोधित करता है और उसके बाद भी वह विधानमण्डल को सन्देष भेज सकता हैं।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर उसकी स्वीकृति आवष्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित रख सकता है।

यदि राज्य के विधानमण्डल का अधिवेषन न हो रहा हो, तो राज्यपाल अध्यादेष जारी कर सकता है। अध्यादेषों को राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों के समान ही मान्यता प्राप्त होगी। राज्यपाल राज्य विधान परिषद के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है, जिन्हे साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाजसेवा के क्षेत्र में विषेष एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो।

2.2.2.3.3. वित्तीय शक्तियॉ :– राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियॉ भी प्राप्त है। राज्य विधानसभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी धन विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह व्यवस्थापिका के समक्ष प्रति वर्ष बजट प्रस्तुत करता है और उसकी अनुमति के बिना किसी भी अनुदान की मॉग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त और अधिक अनुदानों की मॉग भी कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है। इस निधि में से व्यय कर लिया जाता है और बाद में विधानमण्डल में यह व्यय स्वीकार करवा लिया जाता है।

2.2.2.3.4. न्यायिक शक्तियॉ :– संविधान के अनु. 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है उन विषयों सम्बन्धी किसी विधि के विरूद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता, बदल सकता या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकता है।

2.2.2.3.4. विविध शक्तियॉ :– राज्यपाल को कुछ अन्य शक्तियॉ भी प्राप्त हैं।–

- वह राज्य लोकसेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन व राज्य की आय–व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।
- अगर वह देखता है कि राज्य का प्रषासन संविधान के अनुसार चलना सम्भव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के सम्बन्ध में सूचना देता है अैर उसकी रिपोर्ट के आधार पर ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता हैं।

2.2.3. मुख्यमंत्री :– राज्य की मंत्रिपरिषद् का प्रधान मुख्यमंत्री होता है। वह राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान है। अतः राज्य के प्रषसनिक ढॉचे में उसे लगभग वहीं स्थिति प्राप्त है जो केन्द्र में प्रधानमंत्री को।

2.2.3.1.नियुक्ति :– अनु. 164 के अनुसार, मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा। व्यवहारतया राज्यपाल के द्वारा विधानमण्डल के बहुमत दल के नेता को ही मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया जाता है। राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में दो परिस्थितियों में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। प्रथम, जबकि विधानसभा में किसी एक राजीनतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो और एक से अधिक पक्ष मुख्यमंत्री पद का दावा कर रहा हो। द्वितीय स्थिति उस समय हो सकती है जबकि विधानसभा के बहुम दल का कोई सर्वमान्य देता न हो।

2.2.3.2.मुख्यमंत्री की शक्तियां एवं कार्य :– मुख्यमंत्री की शक्तियों तथा कार्यों का अध्ययन निम्नांकित रूपों में किया जाता है।:–

- मुख्यमंत्री का सर्वप्रथम कार्य अपनी मंत्रिपरिषद का निर्माण करना होता है। मुख्यमंत्री के चयन में बहुत कुछ सीमा तक अपने विवेक का प्रयोग करता है। मंत्रियों की संख्या के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री ही निर्णय करता है।
- मुख्यमंत्री ही मंत्रिमण्डल की बैठकें बुलाता है तथा उनकी अध्यक्षता करता है। बैठक के लिए एजेण्डा मुख्यमंत्री के द्वारा ही तैयार किया जाता है। मुख्यमंत्री इस बात का प्रयत्न करता है कि शासन के सभी विभाग, दूसरे शब्दों में मंत्रिपरिषद् एक इकाई के रूप में कार्य करे। यदि मंत्रिपरिषद के दो या अधिक सदस्यों में किसी प्रकार के मतभेद उत्पन्न हो जायें, तो उसके द्वारा इन मतभेदों को दूर कर सामंजस्य स्थापित किया जाता है।
- मुख्यमंत्री परिषद् के अपने सहयोगियों के बीच विभागों का बटॅवारा करता है। एक बार मंत्रिपरिषद के निर्माण व उसके सदस्यों के विभागेां को बटॅवारा कर चुकने के बाद भी वह जब चाहे तब, मंत्रियों के विभागों तथाा उनकी स्थिति में परिवर्तन कर सकता है।
- संविधान के अनुसार मुख्यमंत्री पर यह भार है कि वह मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच सम्पर्क स्थापित करे। वह मंत्रिमण्डल के निर्णयेां की सूची राज्यपाल को देता है और राजयपाल के विचारों से मंत्रिमण्डल को अवगत कराता है।
- मुख्यमंत्री एक ओर तो शासन का प्रधान है तो दूसरी ओर विधानसभा का नेता भी है। विधानसभा के नेता के रू‍प में उसे कानून निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है। और बहुत कुछ सीमा तक कानून निर्माण का कार्य उसकी इच्छानुसार ही होता है। वह विधानसभा का नेता होने के तौर पर राज्यपाल को विधान सभा भंग करने का परामर्ष भी दे सकता है।
- मुख्यमंत्री राज्य सरकार का प्रधान प्रवक्ता होता है और राज्य सरकार की ओर से अधिकृत घोषणा मुख्यमंत्री द्वारा ही की जाती है। यदि कभी किन्हीं दो मंत्रियों के परस्पर विरोधी वक्तव्यों में भ्रम उत्पन्न हो जाए, तो इसे मुख्यमंत्री के वक्तव्य से ही दूर किया जा सकता है।
- मुख्यमंत्री राज्य बहुमत दल का नेता भी होता है। इसे दलीय ढॉचे पर नियंत्रण प्राप्त होता है और यह स्थिति उसके प्रभाव में अधिक वृद्धि कर देती है।

- मुख्यमंत्री राज्य की शासन व्यवस्था पर सर्वोच्च और अन्तिम नियंत्रण रखता है। चाहे शान्ति और व्यवस्था का प्रष्न हो, कृषि, सिंचाई स्वास्थ्य और षिक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लेना हो और चाहे कोई विकास सम्बन्धी प्रष्न हो, अन्तिम निर्णय मुख्यमंत्री पर ही निर्भर करता है। मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद के सदस्यों का उनके विभागों के सम्बन्ध में दिषा–निर्देष दे सकता है। मंत्रि परिषद् के सदस्य विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं। किन्तु यदि अन्तिम रूप में किसी एक व्यक्ति को राज्य के प्रषासन की अच्छाई या बुराई के लिए उत्तरदाई ठहराया जा सकता है तो वह निष्चित रूप से मुख्यमंत्री ही है।

मुख्यमंत्री राज्य के शासन का प्रधान है किन्तु किसी भी रूप में उसे राज्य के शासन का तानाषाह नहीं कहा जा सकता है। वह राज्य का सर्वाधिक लोकप्रिय जन नेता है।

2.2.3.3.मुख्यमंत्री की अन्य शक्तियॉ

- मंत्रिपरिषद् का निर्माण
- मंत्रिपरिषद का कार्य संचालन
- शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय
- मत्रियों में कार्य का बटॅवारा एवं परिवर्तन
- मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के बीच सम्पर्क स्थापित कर्ता
- विधानसभा का नेता
- सरकार का प्रधान प्रवक्ता
- राज्य में बहुमत दल का नेता
- राज्य की समस्त शासन व्यवस्था पर नियंत्रण

2.2.4. मंत्रि परिषद

अनुच्छेद 103 में यह लिखा है कि राज्यपाल को उसके कृत्येां के प्रयोग के लिए सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रि–परिषद होगी। राज्यपाल से साधारणतयः यह अपेक्षा होती है कि यह मंत्रि–परिषद की सलाह से कार्य करेगा क्योंकि संसदीय प्रणाली का यही नियम है। राष्ट्रपति की दषा में अनु. 74 में यह अभिव्यक्त रूप में कहा गया है कि राष्ट्रपति मंत्रि परिषद् की सलाह पर कार्य करेगा। राज्यपाल के लिए इसके समान्तर कोई उपबन्ध नहीं है।

2.2.5. मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति

राज्यपाल, मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा की जाती है। जब किसी एक राजनीतिक दल का विधानसभा में स्पष्ट बहुमत होता है तो राज्यपाल को कोई विकल्प नहीं हेाता। उसे बहुतम वाले दल के नेता को मुख्यमंत्री बनाना हेाता है। किन्तु यदि बहुमत वाला दल किसी ऐसे व्यक्ति को चुनता है जो विधायक नहीं है और विधायक के रूप में निर्वाचित होने के लिये योग्य नहीं है तो राज्यपाल को चाहिए कि उस व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करने से मना करे दे। राज्यपाल का यह भी कर्तव्य है कि वह संविधान का पालन करे और संविधान तथा विधियेां के अनुसार कार्य करे। जब स्पष्ट बहुमत नहीं होता या दो या अधिक दल मिलकर बहुमत का

दावा सकते हैं तो राज्यपाल को अपनी विवेक बुद्धि से मुख्यमंत्री का चयन करना होता है।

मंत्रियों के चयन में मुख्यमंत्री व्यावहारिक दृष्टि से निम्न बातों को ध्यान में रखता है:–

- राज्य के सभी क्षेत्रों और वर्गों को मंत्रिपरिषद् मे न्यायसंगत ढंग से प्रतिनिधित्व दिया जाता है।
- सामान्यतया मुख्यमंत्री द्वारा अपने दल में से मंत्रिपरिषद का निर्माण किया जाता है जिससे मंत्रिपरिषद् एक इकाई के रूप में कार्य कर सके।
- मंत्रिपरिषद में दल के प्रभावषाली सदस्यों का स्थान दिया जाता है, जिससे मुख्यमंत्री को दल का विष्वास प्राप्त रहे।
- मंत्रि परिषद् में ऐसे सदस्यों को स्थान दिया जाता है जो मुख्यमंत्री के विष्वास पात्र हो और उसके नेतृत्व को प्रसन्नता के साथ स्वीकार करें।
- ऐसे व्यक्तियों को लिया जाता है जिनमें प्रषासनिक योग्यता हो और जो कानून निर्माण तथा प्रषासन के दायित्वों को पूरा करे सकें एवं
- विधानमण्डल में स्थिति का सामना कर सकें।

2.2.6. मंत्रियों की योग्यता

मंत्रिपरिषद् के सभी सदस्यों के लिए आवष्यक है कि वे विधान मण्डल के किसी सदन के सदस्य हों। यदि कोई व्यक्ति मंत्रि परिषद् पर नियुक्ति के समय विधान मण्डल का सदस्य नहीं है तो उसके लिए 6 माह के भीतर विधान मण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवष्यक होता है। ऐसा करने में असफल रहने पर मंत्रिपद छोड़ना होता है।

2.2.7. मंत्रियों द्वारा शपथ ग्रहण

पद ग्रहण के पूर्व मुख्यमंत्री को राज्यपाल के समक्ष दो शपथें लेनी होती हैं–

पहली– पद के कर्त्तव्य–पालन की,

दूसरी– गोपनीयता की।

2.2.8. मंत्रियों की श्रेणियॉ :– राज्यों की मंत्रिपरिषद् में भी मंत्रियों की तीन श्रेणियॉ होती हैं–

(i) कैबिनेट मंत्री या मंत्रिमण्डल के सदस्य,

(ii) राज्यमंत्री और,

(iii) उपमंत्री

कैबिनेट के सदस्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और कैबिनेट के द्वारा ही सामूहिक रूप से शासन की नीति का निर्धारण किया जाता है। दूसरे स्तर पर राज्यमंत्री होते हैं। कुछ राज्यमंत्रियों को तो स्वतंत्र रूप से किसी विभाग के प्रधान की स्थिति प्राप्त हो जाती है। और कुछ राज्यमंत्री कैबिनेट मंत्री के कार्य में हाथ बटॉते हैं। राज्यमंत्री के बाद उपमंत्री आते हैं जो कि कैबिनेट मंत्रि के सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

मंत्रियों क इन श्रेणियों के आधार पर मंत्रिमण्डल और मंत्रिपरिषद् में अन्तर समझा जा सकता है। प्रथम स्तर के मंत्रियों को सामूहिक रूप से मंत्रिमण्डल या कैबिनेट कहते हैं और तीनों ही स्तरों के मंत्रियों को सामूहिक रूप से मंत्रिपरिषद् कहते हैं। इस प्रकार मंत्रिमण्डल एक छोटी लेकिन बहुत महत्वपूर्ण इकाई है, और मंत्रि परिषद् एक बड़ी इकाई है। मंत्रिमण्डल चक्र के भीतर चक्र है।

2.2.8. मंत्रि परिषद का कार्यकाल

मंत्रिपरिषद का कार्य काल विधानसभा के विष्वास पर निर्भर करता है। सामान्य तौर पर मंत्रिपरिषद का अधिकतम कार्यकाल 5 वर्ष ही हो सकता है क्योंकि विधानसभा का कार्यकाल भी 5 वर्ष ही हे। व्यक्तिगत रूप से किसी मंत्री का कार्यकाल मुख्यमंत्री के उसमें विष्वास पर निर्भर करता हैं

2.2.9. मंत्रिपरिषद की शक्तियॉ एवं कार्य

संविधान के द्वारा राज्यपाल को राज्य शासन के सम्बन्ध में जो शक्तियॉ प्रदान की गयी हैं, व्यवहार में उन सबका उपभोग मंत्रिपरिषद के द्वारा ही किया जाता हे। राज्य की कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपिरिषद् में ही निहित है। शासन सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण निर्णय मंत्रिपरिषद द्वारा ही लिये जाते हैं, तथा मुख्यमंत्री इन निर्णयों के विषय में राज्यपाल को सूचित करता है। मंत्रिपरिषद के कार्यों एवं शक्तियेां का उललेख निम्नांकित रूपों में किया जा सकता हैः–

2.2.9.1. नीति निर्धारिण :– मंत्रिपरिषद् का अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य शासन की नीति निर्धारित करना है। चाहे गृह विभाग हो या षिक्षा, स्वास्थ्य अथवा कृषि शासन की नीति का निर्धारण मंत्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है। मंत्रिपरिषद् न केवल नीति निर्धारण करती, वरन् उसे कार्य रूप में भी परिणत भी करती है।

2.2.9.2. उच्च पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्ष :– संविधान के अनुसार राज्यपाल महाधिवक्ता, राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता है। मंत्रिपरिषद् ही राष्ट्रपति को उच्च–न्यायालयों के न्यायाधीषों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्ष देती है।

2.2.9.3. विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व :– विधान मण्डल की बैठकों में मंत्रिगण शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मंत्रिगण विधानसभा और विधान परिषद् में उपस्थिति होकर सदस्यों के प्रष्नों व आलोचनाओं का उत्तर देते और शासन की नीति का समर्थन करते हैं।

2.2.9.4. कानून निर्माण का कार्यक्रम निष्चित करना :– मंत्रि परिषद् न केवल शासन वरन् कानून निर्माण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यदि यह कहा जाए कि मंत्रि परिषद् विधान मण्डल की सहमति से कानूनों का निर्माण करती है तो इसमें कुछ अनुचित न होगा। विधान मण्डल में कौन–कौन से विधेयक तथा किस क्रम में प्रस्तुत किए जाएंगे, इसका निर्णय मंत्रि परिषद् अपने बहुमत के बल पर ही करती हैं। इस प्रकार मंत्रि परिषद् कानून निर्माण के क्षेत्र में विधान मण्डल का नेतृत्व करती है।

2.2.9.5. बजट तैयार करवाना :– राज्य का वार्षिक बजट वित्तीय वर्ष के आरम्भ के पूर्व वित्तमंत्री द्वारा विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह बजट मंत्रिपरिषद् द्वारा निष्चित की गयी नीति के आधार पर ही तैयार किया जाता है। बजट के परित कराने का उत्तरदायित्व भी मंत्रिपरिषद् का ही होता है।

संक्षेप में, मंत्रिपरिषद् राज्य के प्रषासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई होता है।

2.2.11. राज्य विधायिका :– भारतीय संविधान के भाग VI के अनु. 168 से 212 में राज्य विधाकिया के गठन संगठन, कार्यकाल अधिकारियों, प्रक्रियाओं, विषेषाधिकारों, शक्तियों इत्यादियों का वर्णन है। हालॉकि यह सब संसद के समान ही, किन्तु इनमें कुछ अन्तर भी है।

राज्य विधायिका के गठन में एकरूपता नहीं है। अधिकतर राज्यों में एक–सदनीय व्यवस्था है। जबकि अन्य में द्विसदनीय व्यवस्था है। वर्तमान समय में केवल 7 राज्येां में ही द्विसदनीय व्यवस्था है।

ये राज्य हैं आन्ध्र प्रदेष, तेलंगाना, उत्तर प्रदेष, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक और जम्मू–काष्मीर।

जिन राज्य में द्विसदनीय व्यवस्था है, वहॉ व्यवस्थापिका राज्यपाल, विधान परिषद् और विधान सभा से मिलकर बनती है।

विधान परिषद् उच्च सदन, जबकि विधान सभा निम्न सदन होता है और इससे ही विधान परिषद् का निर्माण होता हैं।

2.2.12. विधानसभा के सदस्यों की संख्या :– विधानसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर लोगों द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के होते हैं। इनकी सदस्य संख्या न्यूनतमक 60 और अधिकतम 500 निर्धारित की जाती है। हालांकि अरूणाचल प्रदेष, सिक्किम और गोवा में इसकी संख्या 30 सदस्य तक निर्धारित की गई है और मिजोरम और नागालैण्ड के मामले में इसकी संख्या क्रमषः 40 और 46 निर्धारित की गई है।

राज्यपाल आंग्ल भारतीय सदस्यों का मनोनीत कर सकता है यदि इस समुदाय के सदस्यों का उचित प्रतिनिधत्व नहीं है तो।

2.2.13. सदस्यों की योग्यताएं एवं कार्यकाल :– विधानसभा की सदस्यता के लिए व्यक्ति को निम्न योग्यताऍ प्राप्त होनी चाहिए।

- ❖ वह भारत का नागरिक हो,
- ❖ उसकी आयु 25 वर्ष से कम ना हो,
- ❖ वह भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किये हुए न हो,
- ❖ वह संसद और राज्य के विधान मण्डल द्वारा निर्धारित शर्तों की पूर्ति करता है।

कोई भी व्यक्ति राज्य के विधान मण्डल के दोनों सदनों का एक साथ सदस्य नही हो सकता। न ही वह दो या दो से अधिक राज्यों के विधान मण्डलों का सदस्य हो सकता है। कोई भी सदस्य यदि विधानमण्डल की किसी सदन की बैठक में 66 दिन तक सदन की आज्ञा के बिना अनुपस्थित रहता है, तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।

राज्य विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्यपाल द्वारा इसे समय से पूर्व भी भंग किया जा सकता हैं।

2.2.14. विधान परिषद सदस्य संख्या एवं गठनः– राज्य के विधानमण्डल का द्वितीय या उच्च सदन विधान परिषद् इस दृष्टि से स्थायी संस्था है कि पूरी विधानपरिषद कभी भी भंग नहीं होती और इसे अवधि के पूर्व भंग नहीं किया जा सकता। विधान परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। प्रति दो वर्ष (1/3) सदस्य अपना पद छोड़ देते हैं और उनके स्थान के लिए नये निर्वाचन होते हैं। संविधान में व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक राज्य की विधानपरिषद् के सदस्यों की संख्या उनकी विधानसभा के सदस्यों की संख्या के 1/3 से अधिक न होगी, पर यह भी कहा गया है कि किसी भी दषा में उसकी सदस्य संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए। जम्मू–कष्मीर इस सम्बन्ध में अपवाद है।

2.2.15. विधान परिषद् व विधानसभा की शक्तियों की तुलना :– राज्य विधानमण्डल के इन दोनों सदनों की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया सकता हैः–

2.2.15.1. साधारण विधेयक के सम्बन्ध में :– यद्यपि साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं तथा विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए, परनतु यदि विधान सभा द्वारा पारित होने के पष्चात् विधानपरिषद् द्वारा उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह बाद तक विधेयक पारित नहीं किया जाता है या परिषद् विधेयक में ऐसे संषोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार्य नहीं होते, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः स्वीकृत करके मंत्रिपरिषद् को भेजती है। जब यदि परिषद विधेयक को पुनः अस्वीकृत कर देती है अथवा विधेयक रखे जाने की तिथि से एक माह बाद तक विधेयक पास नहीं करती या परिषद विधेयक में पुनः ऐसे संषोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होतं, तो विधेयक विधान परिषद् द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। इस प्रकार विधान परिषद् किसी साधारण विधेयक को केवल चार माह तक रोक सकती है। इस प्रकार साधारण विधेयक के सम्बन्ध में भी राज्यों में विधान परिषद् विधान सभा के समान नहीं वरन् कम शक्तिषाली है।

2.2.15.2. वित्त विधेयको के सम्बन्ध में :– वित्त विधेयक केवल विधान सभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं। विधानसभा द्वारा अस्वीकृत होने पर जब कोई वित्त विधेयक परिषद् को भेजा जाता है तथा परिषद् 14 दिन के भीतर विधेयक संषोधनों सहित वापस कर देती है तो उन संषोधनों को स्वीकार करने अथवा न करने का अधिकार विधानसभा को प्राप्त है। यदि विधानपरिषद् 14 दिन के भीतर विधेयक नहीं लौटाती तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है।

2.2.15.3. कार्यपालिका पर नियंत्रण के सम्बन्ध मेंः– राज्य का मंत्रिमण्डल भी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की भांति निम्न सदन अर्थात् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हेाता है। विधानपरिषद् केवल प्रष्न पूछने तथा स्थगन प्रस्ताव उपस्थित कर मंत्रिमण्डल के कार्यों की जॉच एवं आलोचना कर सकता है। मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविष्वास प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत करने का कार्य विधान सभा द्वारा ही किया जा सकता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विधान सभा विधान परिषद से अधिक शक्ति सम्पन्न है। यह स्वाभाविक और उचित भी है क्योंकि

विधान सभा राज्य की जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होती है, जब कि विधान परिषद् का चुनाव परोक्ष रूप से होता है।

2.2.16. सारांषः– संघ की कार्यपालिका की ही भॉति राज्य की कार्यपालिका का संवैधानिक अध्यक्ष रज्यपाल होता है और वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद् एवं मुख्यमंत्री के हाथों में निहित होती है। राज्यपाल विधान मण्डल का अंग होता है। (अनु. 168)

संविधान द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक शासन व्यवस्था स्थापित होने के कारण राज्य की वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद में है। जो कि राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता है।

संविधान द्वारा प्राप्त राज्य की कार्यपालिका या व्यवस्थापिका को असीमित शक्तियॉ नहीं प्राप्त अपितु दोनों ही एक दूसरे के साथ सम्न्वय एवं सामंजस्य की भावना के साथ कार्य करने के लिए अपेक्षित हैं।

2.2.17. दीर्ध उत्तरीय प्रष्न :–

1. भारतीय राज्य के राज्यपाल की शक्तियॉ एवक भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. राज्यों की मंत्रिपरिषदों की शक्तियों का विष्लेषण कीजिये।
3. मुख्यमंत्री की नियुक्ति किस प्रकार हेाती है? उसका राज्य शासन में क्या स्थान है।
4. राज्यपाल एवं मंत्रिपरिषद के आपसी सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
5. राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियॉ।

2.2.18. लघु उत्तरीय प्रष्न

1) राज्यपाल की वित्तीय शक्तियॉ
2) राज्यपाल की अध्यादेष जारी करने की शक्ति
3) मंत्रिमण्डल एवं मंत्रिपरिषद् में अन्तर
4) विधानसभा व विधान परिषद् की शक्तियों की तुलना।

2.2.19. बहु विकल्पीय प्रष्न –

1) राज्यपाल की नियुक्ति होती है
   (क) विधान सभा द्वारा (ख) राज्य विधान मण्डल द्वारा
   (ग) राष्ट्रपति द्वारा (घ) जनता द्वारा
2) राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रमुख होता है।
   (क) मुख्यमंत्री (ख) राज्यपाल
   (ग) विधान सभा (घ) प्रधानमंत्री
3) मंत्रिपरिषद का अधिकतम कार्यकाल होता है।
   (क) चार वर्ष (ख) अनिष्चित कालीन
   (ग) पॉच वर्ष (घ) छः वर्ष
4) वर्तमान में मंत्रियों की कितनी श्रेणी होती है।
   (क) 2 (ख) 3
   (ग) 4 (घ) 5
5) वर्तमान समय में कितने राज्येां में द्विसदनीय विधायिका है?
   (क) 10 (ख) 7

(ग) 8 (घ) 12

2.2.20. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिषचन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

इकाई –3 संघवादः– सिद्धान्त एवं व्यवहार

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देष्य
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. संघवाद व्यवस्था व उसके लक्षण
2.3.2.1. प्रमुख शक्ति का दोहरा प्रयोग
2.3.2.2. शक्तियों का विभाजन,
2.3.2.3. लिखित व कठोर संविधान,
2.3.2.4. संविधान की सर्वोच्चता,
2.3.2.5. न्यायपालिका की सर्वाच्चता,
2.3.2.6. दोहरी नागरिकाता,
2.3.3. संघात्मक शासन प्रणाली के निर्मण की आवष्कयताॅए एवं शर्ते,
2.3.3.1. लक्ष्यों में एकरूपता,
2.3.3.2. भौगोलिक एकता,
2.3.3.3. आर्थिक रूप से समानता,
2.3.3.4. राजनीतिक चेतना
2.3.3.5. राष्ट्रीयता की भावना तथा भाषा, धर्म एवं संस्कृति की एकता,
2.3.3.6. संघीय व्यवस्था को सफल बनाने की प्रबल इच्दा,
2.3.4. संघवाद की प्रकृति/प्रतिमान,
2.3.4.1. सहायेागी संघवाद,
2.3.4.2. सौदेबाजी का संघवाद,
2.3.4.3. एकात्मकतावादी संघवाद,
2.3.5. भारतीय संघात्मक व्यवस्था,
2.3.6. उपसंहार
2.3.7. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
2.3.8. लघु उत्तरीय प्रष्न
2.3.9. बहु विकल्पीय प्रष्न
2.3.10. संदर्भ सूची

2.2.0. उद्देष्य

इस पाठ द्वारा विद्यार्थियों में – संघवाद के स्वरूप एवं अवधारण का ज्ञान प्राप्त कराया जाएगा।

- संघवाद की प्रकृति एवं प्रतिमानों से अवगत कराया जाएगा।
- संघवाद के निर्माण की आवष्यक शर्तों से परिचित कराया जाएगा।
- संघवादी व्यवस्था के लक्षणों के प्रति बोध प्राप्त करवाया जाएगा।

2.3.1. प्रस्तावना :– ''संघवाद का मुख्य गुण संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच विधाई और कार्यपालिका शक्तियों के विभाजन में निहित होता है। हमारे संविधान में इस सिद्धान्त को अपनाया गया है। अतः यह कहना असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है।''

–डॉ अम्बेडकर

(संविधान सभा में दिए गए भाषण का एक अंष)

सघवाद संघात्मक शासन व्यवस्था से सम्बन्धित अवधारणा है। संघात्मक शासन व्यवस्था में राज्य शक्ति केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य विभक्त रहती हैं तथा दोनों ही सरकारें की सत्ताा का स्त्रोत एक ही संविधान रहता है। **के. सी. व्हीयर के अनुसार**, 'संघात्मक शासन व्यवस्था के केन्द्रीय राष्ट्रीय या सामान्य सरकार अथवा संघीय सरकार तथा राज्यें या प्रादेषिक सरकारों की अपनी–अपनी मौलिक शक्तियॉ होती है जो इन शक्तियों के प्रयोग में न हो तो एक–दूसरे पर आश्रित रहती हैं तथा न ही एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करती हैं। दोनों ही सरकारों का अपने अधिकारें के प्रयोग के समबन्ध में नागरिकों से सीधा सम्बन्ध रहता है तथा नागरिकों की दोनें ही सरकारों के प्रति राज्य निष्ठा रहती है।

संविधान के द्वारा भारत के लिए एक संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है, लेकिन संविधान में कहीं पर भी 'संघ राज्य' (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया हैं वरन् उसके स्थान पर 'राज्यों का संघ' (Union of States) शब्द का प्रयोग किया गया है। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि 'भारत राज्यों का एक संघ होगा'। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने 'राज्यों के संघ' शब्दावली के महत्व कों स्पष्ट करते हुए संविधान सभा में कहा था, ''प्रारूप समिति के द्वारा इस शब्दावली का प्रयेाग यह स्पष्ट करेन के लिए किया गया है कि यद्यपि भारत का एक संघ राज्य है, लेकिन यह संघ राज्य किसी प्रकारक` पारस्परिक समझाौतों का परिणाम नहीं है। और संघ राज्य समझौतों का पंरिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है।

संघात्मक शासन व्यवस्था वास्तव में एकात्मक एवं परिसंघात्मक का मिश्रित स्वरूप है। एकात्मक शासन व्यवस्था में विविध प्रादेषिक सरकारों व स्थानीय सरकारें, प्रषासकीय कुषलता के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित की जाती हैं, जो इन्हें आवष्यक सत्ता प्रदान करती हैं तथा इन पर पूर्ण नियंत्रण रखती हैं। परिसंघ शासन व्यवस्था में राज्य शक्ति के अनेक स्वतंत्र केन्द्र विद्यमान रहते हैं तथा परिसंघ सरकार इन प्रादेषिक या राज्य सरकरों की सुविधा के लिए ही प्रस्थापित रहती है। ऐसी अवस्था में राज्य सरकारें को मोलिक सत्ता रहती है तथा इन्हीं के द्वारा कुछ विषेष उद्देष्यों सामूहिक सुरक्षा, आर्थिक सहयोग या कुछ साधनों के समुचित उपयेाग की प्राप्ति सम्भव बनाने के लिए कुछ शक्तियों, परि संघ सरकार को दी जाती है।

2.3.2. संघवाद व्यवस्था व उसके लक्षण :– संघवाद वह यंत्र है जिसके द्वारा राज्य की समस्त शक्तियों का विभाजन दो प्रकार की सरकारों के मध्य हो जाता है। ये दो प्रकार की सरकारें, केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों के रूप में होती हैं। वस्तुतः संघवाद 'सीमित सरकार' का सिद्धान्त है, जिसमें संविधान के द्वारा

केन्द्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों, दोनों की ही शक्तियों को सीमित कर दिया जाता है।

संवैधानिक दृष्टि से संघावाद का तात्पर्य उस शासन व्यवस्था से है जिसमें अनेक स्वतंत्र राज्य अपने कुछ सामान्य उद्देष्य की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार का संगठन करते हैं। संघात्मक शासन व्यवस्था का निर्माण समान्यतया एक लिखित समझौते जो एक संविधान के रूप में होता है, के द्वारा होता है। संविधान के द्वारा केन्द्र तथा इकाइयों की सरकारों के मध्य शासन शक्तियों का स्पष्ट विभाजन कर दिया जाता है। सामान्य तथा सम्पूर्ण देष पर लागू होने वाले विषयें का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहता है तथा स्थानीय एवं क्षेत्रीय महत्व के विषयों पर इकाइयों की सरकारें का अधिपत्य रहता है। अवषिष्ट शक्तियॉ सामान्यतया राज्यों की सरकारों के लिए ही रहती है। किसी–किसी देष में यह केन्द्र सरकार के हाथें में भी रहती है। दोनों प्रकार की सरकारें अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में स्वतंत्र रहती है तथा उनके अधिकार क्षेत्र में परिवर्तन एक विषेष प्रक्रिया द्वारा दोनों की सहमति से होता है। संक्षेप में संघ राज्य दोहरी शासन व्यवस्था पर आधारित होता है, जिसमें शासन शक्ति का विकेन्द्रीकरण महत्वपूर्ण एवं सुनिष्चित ढंग से किया जाता है।

के.सी. व्हीयर के अनुसार, ''संघात्मक संविधान उस संविधान को कहते हैं जिसमें संघात्मक सिद्धान्त परिलक्षित होता है अर्थात् जिस संविधान से शासन शक्तियें का केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के मध्य इस प्रकार का विभाजन हो क दोनें स्वतंत्र एवं समकक्ष हों।'' सामान्यतया यह भ्रम हो जाता है कि जहॉ कहीं संघात्मक संविधान होगा वहॉ की सरकार भी संघात्मक ही होगा। व्यवहार में ऐसा आवष्यक नहीं है। ऐसी व्यवस्था को के. सी. वहीयर 'अर्द्ध संघात्मक' (Quasi federal) व्यवस्था कहता है।:–

- **कोरी एवं अब्राहन के अनुसार –** ''संघवाद सरकार का ऐसा दोहरा स्वरूप है जो विविधता के साथ एकता का समन्वय करने की दृष्टि से शक्तियों के प्रादेषिक तथा प्रकार्यात्मक विभाजन पर आधारित है।''
- **इन साइक्लोपीडिया आफ स्पेषल साइंसेज के अनुसार–** ''संघात्मक शासन व्यवस्था अलग–अलग राजीनतिक इकाइयों को एक ऐसी वृहत्तर राजनीतिक व्यवस्था में संगठित, व एकताबद्ध करता है जिसमें हर राजनीतिक व्यवस्था अपनी आधारयुक्त राजीनतिक व्यवस्था से युक्त बनी है।

संक्षेप में संघात्मक शासन के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

2.2.3.1. प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग :– सरकार की शक्तियॉ संघीय सरकार और संघ में शामिल होने वाली इकाइयों के बीच बंटी होती हैं। संघीय राज्य का अधिकार क्षेत्र उन सब विषयों तक विसतृत होता है जो राष्ट्रीय महत्व के अथवा सबके लिए सामान्य हित के होते हैं। इकाइयों को स्थानीय महत्व और

उपयोगिता के विषयें पर नियंत्रण दिया जाता है, इसमें एकरूपता की आवष्यकता नहीं होती।

यद्यपि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता, परन्तु सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति दो प्रकार से केन्द्र सरकार व राज्य सरकार के माध्यम से होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघात्मक राज्य के अन्तर्गत जो इकाईयॉ होती हैं, उन्हें अपनी सत्ता केन्द्रीय सरकार से न प्राप्त होकर संविधान के द्वारा ही प्राप्त होती है तथा उनकी स्थिति अधीनता की न होकर समानता की होती है।

2.3.2.2. शक्तियों का विभाजन :– संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत संविधान द्वारा ही केन्द्र एवं स्थानीय सरकारों के मध्य शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत सामान्य रूप से राष्ट्रीय महत्व के विषय संघीय सरकार को तथा स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों की सरकारें के सुपुर्द कर दिये जाते हैं।

संघ एकता के परिणामस्वरूप नहीं, अपितु आपसी संगठन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। एकता एकात्मक सरकार का सार है। संघ अपने में शामिल होने वाली इाकइयों के स्वरूप को सुरक्षित रहने देता है।

2.3.2.3. लिखित व कठोर संविधान – संघ बनाया जाता है, यह उत्पन्न नहीं होता। चूॅकि संघ जान–बूझकर एकता बढ़ाने के उद्देष्य से बनाया जाता है, चूंकि संघ ही शक्ति है, और चूंकि संघ दोहरी सरकारों की व्याख्या करता है जिनके बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया जाता है, इसलिए संघीय शासन में लिखित संविधान का होना नितान्त आवष्यक है।

संघवाद के लिए संविधान न केवल लिखित होना चाहिए बल्कि कठोर होना चाहिए, ताकि किसी एक पक्ष की सरकार दूसरे पक्ष की सरकार के अधिकार–क्षेत्र का अतिक्रमण न कर सके। यदि शक्तियों के विभाजन में परिवर्तन अभीष्ट है तो ऐसा परिवर्तन संविधान में संधोधन करने के बाद ही किया जा सकता हैं।

2.3.2.4. संविधान की सर्वोच्चता :– संघात्मक राज्य के अनतर्गत संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्रीय सरकार, प्रांतीय सरकारें और सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों का निर्धारण संविधान द्वारा किया जाता है। दोनें ही सरकारें संविधान द्वारा निर्धारित क्षेत्राधिकार का उल्लंघन नहीं कर सकती।

साथ ही, संविधान के संषोधन की प्रक्रिया स्वयं संविधान में निर्धारित रहती है। इसका अर्थ यह है कि संविधान सर्वोच्चतम् विधि है। संघीय शासन में संविधान की सर्वोच्चता नितान्त आवष्यक है।

2.3.2.5. न्यायपालिका की सर्वोच्चता :– सभी संघात्मक राज्यों में संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है। यह सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार अथवा सरकार के किसी अंग द्वारा संविधान के प्रतिकूल किये गये कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता

है। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों तथा प्रान्तीय सरकरों में परस्पर किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर सर्वोच्च न्यायालय ही इस विवाद को हल करेगा।

2.3.2.6. दोहरी नागरिकता :– संघ राज्य के अन्तर्गत साधारण तथा दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। एक नागरिकता संघीय सरकार तथा दूसरी प्रान्तीय सरकार की तथा व्यकितयों से अपेक्षा की जाती है कि वह दोनों सरकारों के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाहन करें।

इसके अतरिक्त, संघ द्वारा राज्यों में स्थायी ऐक्य स्थापित होता है, किन्तु अन्य प्रकार के समझौते या सन्धियों से राज्यों का जो एकीकरण होता है, वह स्थाई नहीं होता।

संघ में शामिल होने की इच्छा रखने वाले राज्य संघ का निर्माण होते ही अपनी व्यक्तिगत प्रभुसत्ता खो देते हैं। इस संघ के फलस्वरूप एक नए राज्य का उदय होता है और प्रभुसत्ता नव–निर्मित संघीय राज्य के निहत हो जाती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त दो अन्य विशेषताएँ भी संघात्मक शासन की मानी जा सकती हैं– संघीय सरकार के उच्च सदन में राज्यों का प्रतिनिधित्व, संघीय संविधान संषोधन में संघ की इकाइयों की भूमिका।

इन दोनों ही लक्षणों को संविधान में स्थान देने का मुख्य लक्ष्य संविधान के अनतग्रत राज्येां के दायित्वों का निर्धारण एवं उनके हितों की रक्षा है।

भारतीय संसद का उच्च सदन अर्थात् राज्य सभा 'राज्यों का सदन' है। यह राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि यह प्रतिनिधित्व राज्यों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित न होकर जनसंख्या के आधार पर है।

2.3.3. संघात्मक शासन प्रणाली के निर्माण की आवष्कयताएँ एवं शर्तें– संघात्मक राज्य के समबन्ध में एक सार्वभौमिक सत्य है कि राज्य विकास का परिणाम है। परन्तु इसके विपरीत संघ राज्य समझौते का परिणाम है न कि विकास का। यह बात विष्व के सभी संघ राज्यों पर लागू होती हैं।

इस दृष्टि से मेरियट का यह कथन सत्य है कि 'संघ राज्य का निर्माण होता है, स्वतः जन्म नहीं।'

जब प्रभुत्व–षक्ति सम्पन्न स्वतंत्र राज्य देष की सुरक्षा एवं विकास के लिए स्वेच्छा से अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए एक नवीन संघ की स्थापना के लि सहमत हो जाते हैं, तो इस प्रकार संघ का निर्माण हो जाता है। इसके विपरीत केन्द्र विमुखी प्रवृत्ति या पृथक्करण की प्रक्रिया के आधार पर भी संघ का निर्माण हो सकता है। ऐसा तभी सम्भव है जब कोई बडे आकार वाला एकात्मक राज्य अपने अधीन प्रान्तों या राज्यों को पूर्ण आनतरिक स्वतंत्रता प्रदान करने के उद्देष्य

से स्वयं ही शक्तियों का विकेन्द्रीकरण स्वीकार कर ले। भारत इसका उदाहरण कहा जा सकता है।

वर्तमान समय में संघ राज्य के विकास की सर्वोच्च इकाई है, परन्तु संघ राज्य के निर्माण के लिए कुछ आवष्यक शर्ते या दषाएँ होती हैं जो न केवल इसके अस्तित्व एवं विकास के लिए अपरिहार्य हैं, बल्कि उसकी सफलता भी इस बात पर निर्भर करती है।

अपनी पुस्तक 'Federal Government' में के. सी. व्हीयर ने निम्नलिखित कारणों को संघात्मक व्यवस्था की स्थापना के लिए आवष्यक माना है–

- सैनिक असुरक्षा की भावना,
- विदेषी शक्तियों से स्वतंत्र रहने की इच्छा,
- आर्थिक लाभ की आषा,
- विभिन्न राजीनतिक इकाइयों में राजनीतिक सम्पर्क,
- राजनीतिक संस्थाओं में समानता,
- आवष्यकता पड़ने पर प्रभावषाली नेतृत्व की उपलब्धि की आकांक्षा।

सामान्य रूप से संघवाद के निर्माण एवं सफलता के लिए निम्न षर्तो का होना आवष्यक है।–

2.3.3.1. लक्ष्यों में एकरूपता :– संघ के निर्माण हेतु यह परम आवष्यक है कि विभिन्न राजनीतिक इाकइयों के मध्य ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामरिक तथा आर्थिक लक्ष्यों पर सहमति है। इसके लिए जहॉ उनमें सामान्य गनतव्यों एवं लक्ष्यों की दृष्टि से एकता की भावना होनी चाहिए, वही दूसरी ओर उनमें पृथक अस्तित्व बनाये रखने की भावना भी होनी चाहिए। यदि संघीय संगठन के द्वारा निर्मित राजनीतिक समाज के विभिन्न भागों में अन्ततः गन्तव्यों की असमानता होगी तो इससे व्यवस्था में तनाव एवं खिंचाव बढ़ेगे जिससे संघीय व्यवस्था टूट जायेगी। सोवियत रूस, मलेषिया, संयुक्त अरब गणराज्य के सन्दर्भ में ऐसा ही हुआ है।

2.3.3.2. भौगोलिक एकता :– भौगोलिक एकता ही भावना एवं निकटता भी संघ के निर्माण में सहायक हेती हैं। इकाइयों के परस्पर दूर होने की अवस्था में उनमें प्रषासनिक एकता स्थापित किया जाना सम्भव न होगा। इसके अतरिक्त जहॉ लोग भौगोलिक दृष्टि से एक–दूसरे से बहुत दूर होंगे, वहॉ भौगोलिक एकता स्थापित करना सम्भव न होगा। पूर्वी पाकिस्तान अथवा बांगलादेष का पाकिस्तान से अलग होना यही सिद्ध करता है। भारत, अमेरिका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में संघ की सफलता भौगोलिक एकता के कारण ही सम्भव है।

2.3.3.3. आर्थिक रूप से समानता :– दोहरी सरकार में व्यय की मात्रा अधिक होती है। अतएव अवयवी इकाइयों के पास पर्याप्त आर्थिक संसाधन होने चाहिए ताकि वे केन्द्रीय सरकार को आर्थिक सहायता दे सकें तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता का पोषण कर सकें। वास्तव में युद्ध शक्ति राजनीति, आर्थिक संकट व आर्थिक विषमता

संघात्मक व्यवस्था की प्रतिकूल प्रवृत्तियों को जन्म देते हैं। यदि संघीय इकाईयों के आर्थिक साधन अपर्याप्त हुए तो वे अपनी स्वतंत्र एकता व सत्ता बनाए रखने में असमर्थ होंगे तथा व्यवहार में संघ कभी सफल न हो सकेगा।

2.3.3.4. राजनीतिक चेतना :– प्रत्येक प्रकार के राज्य में राजनीतिक रूप से जागरूक होना आवष्यक समझा जाता है, परन्तु संघ राज्य के लिए यह अनिवार्य समझा जाता है। राजनीतिक दृष्टि से सचेत जनता ही प्रान्तीय, क्षेत्रीय, साम्प्रदायिक एवं अन्य संकीर्ण भावनाओं से परे हटकर संघ की आवष्यकता को पूरा करते हैं। राजनीतिक चेतना का अभाव एवं दायित्वों के प्रति सकारात्मक दृष्टि का अभाव किसी भी संघ के लिए हानिकारक होता है।

2.3.3.5. राष्ट्रीयता की भावपा तथा भाषा, धर्म एवं संस्कृति की एकता :– संघ की एक अन्य आवष्यकता भाषा, धर्म संस्कृति एवं हितों की एकता स्थापित करना है। संघ का उद्देष्य एकता स्थापित करना हेाता है। तथा ऐसा तभी संभव है जबकि राज्य एवं राष्ट्रीयता की सीमांए अनुरूप हो। मिल के शब्दों में ''राज्य के उद्देष्य की पूर्ति धर्म, जाति, भाषा व सबसे अधिक राजीनतिक संस्थाओं, जो राजनीतिक हितों की अनुरूपता को प्रोत्साहित करती है, की एकता पर निर्भर करती है।'' संघात्मक व्यवस्था अनेक संस्कृतियेां व राष्ट्रीयताओं को संगठित करके एक नई राष्ट्रीय व्यवस्था करती है। पीटर **माईकल के अनुसार–** ''संघात्मक व्यवस्था अनेक केन्द्रों वाली शासन व्यवस्थाओं के ऊपर एक नये केन्द्र का आरोप है जिसकी जीवन शक्ति राष्ट्रीयता की भावना ही बन सकती है।

संघीय व्यवस्था को सफल बनाने की प्रबल इच्छा :– संघात्मक व्यवस्थायें उस अवस्था में भी असफल हो जाती हैं जब इसमें सम्मिलित इकाइयॉ इसको सफल बनाने की आकांक्षा नहीं रखती है। कई बार वैचारिकता अथवा नेतृत्व की महानता के कारण या फिर किसी क्षणिक लाभ की प्राप्ति हेतु संघ का निर्माण हो सकता है। ऐसे संघों में संघ के समर्पण की भावना नहीं रह सकती तथा संघ अधिक दिनेां तक टिका नहीं रह सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संघात्मक व्यवस्था कुछ विषेष प्रकार के परिवेष में ही कार्यरत रह सकती है। इस प्रणाली की कठिनाइयॉ हर प्रकार की संघात्मक व्यवस्था में पाई जा सकती है, परन्तु संघवाद के सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ता एवं सफलता की आकांक्षा हर कठिनाई को दूर कर सकती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि संघवाद उस प्रणाली का द्योतक है जिसके विभिन्न अवयवों में अधिकाधिक मात्रा में सहयोग तथा सामंजस्य पाया जाता है।

2.3.4. संघवाद की प्रकृति/प्रतिमान :– संघीय व्यवस्था में केन्द्रीय और राज्य सरकारेां के बीच सहयोगी प्रवृत्ति को स्वाभाविक व आवष्यक बतलाते हुए संघवाद के अधिकारी विद्वान डॉ के. सी. व्हीयर लिखते हैं– ''हर संघात्मक व्यवस्था में आपसी सहयोग की संस्थाओं की या तो संविधान में ही व्यवस्था कर दी जाती है

या इस प्रकार के सहयोग की संस्थाएँ परम्पराओं के रूप में विकसित की जाती हैं।''

प्राचीन समय से आज तक संघवाद के तीन प्रतिमान स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

- सहायेागी संघावाद (Co-operative Federalisam)
- सौदेबाजी का संघवाद (Bargaining Federalism)
- एकात्मकतावादी संघवाद (Unitarian Federalism)

2.3.4.1. सहयोगी संघवाद :– इस प्रकार के संघवाद में शासन शक्तियों का विभाजन दो स्वायत्त सरकारों के मध्य इस प्रकार किया जाता है कि दोनों ही सरकारें अपने–अपने निर्धारित क्षेत्रों में प्रषासन प्रभावषाली एवं कुषलतापूर्वक ढंग से कर सकें।

'सहयोगी संघवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ए. एव. बर्च के द्वारा किया गया। वर्च लिखते हैं ''सहयोगी संघवाद का तात्पर्य उस व्यवस्था से है जिसमें सामान्य एवं क्षेत्रीय सरकारें में सहयोग का चलन हो, क्षेत्रीय सरकारें आंषिक रूप से सामान्य सरकार से प्राप्त होने वाले अनुदानों पर निर्भर हो और सामान्य सरकार सषर्त अनुदानों के आधार पर न विषयों के विकास को प्रोत्साहित करती हो, जो संविधान के द्वारा क्षेत्रीय सरकारों को प्रदान किये गये हों।''

ग्रेनविल ऑस्टिन भारतीय संघवाद पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं– ''कुछ अपवादें को छोड़कर सहयेागी संघवाद के सभी लक्षण भारत पर लागू होते हैं–– भारतीय संविधान सभा ने संघवाद के उस रूप को अपनाया है, जिसे ए. एच. वर्च ने सहयेागी संघवाद की संज्ञा दी है।

भारत में सहयोगी संघवाद की स्थापना करने वाली प्रमुख संसथाए हैं–

- राष्ट्रीय आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद,
- वित आयेाग
- अन्तर्राज्य परिषद
- अखिल भारतीय सेवाएं
- विष्वविद्यालय अनुदान आयोग इत्यादि।

2.3.4.2. सौदेबाजी का संघवाद :– संघात्मक शासन में विभिन्न सरकारें का गठन राजनीतिक दलों के द्वारा होता है। पष्चिमी संघीय व्यवस्थओं को कार्य रूप देने के लिए द्विदलीय व्यवस्थॉए विकसित हुई, जिसने दलों की आपसी समझ–बूझ तथा आधारभूत समस्याओं पर आम सहमति की संघीय व्यवस्थाएँ दलीय व्यवस्था की प्रबलता के कारण सहकारी तथा सृदृढ़तायुक्त दिखाई पड़ती है। परन्तु द्वितीय विष्व युद्ध के उपरान्त एषिया तथा अफ्रीका के नव स्वाधीन राज्यों की संघात्मक व्यवस्थाओं में दलीय व्यवस्था के नये प्रतिमान सामने आये हैं। इन देषें में जहॉ कुछ दल राष्ट्रीय –स्तर के होते हैं वहीं अधिकांष दल संकीर्ण हितों वाले

क्षेत्रीय–स्तर के होते है। ये क्षेत्रीय एवं प्रान्तीय दल अपने संकुचित लाभों के लिए राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सौदेबाजी की राजीनति का सहारा लेते हैं तथा यह भी देखा गया है कि क्षेत्रीय हितों का सहारा लेकर ये राजनीतिक दल प्रादेषिक स्तर पर सत्ता प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

2.3.4.3. एकात्मकतावादी संघवाद :– यदि संघात्मक व्यवस्था संगठन की एक प्रक्रिया है तो इस जड़ व अचल व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में संघात्मक व्यवस्था एक ऐसा प्रतिमान है जहॉ अनेक प्रकार की उपव्यवस्थायें सम्मिलित रहती है तथा निर्णय प्रक्रिया मात्र केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें की पारस्परिक सहभागिता पर निर्भर नहीं करती है बल्कि, इस बात पर भी आधारित होती है कि केन्द्रीय सरकार राजीनतिक समाज के राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति की क्षमताओं, एवं सम्भावनाओं में राज्य सरकारों से बहुत आगे रहती हैं।

एकात्मतावादी संघवाद के लक्षण भारतीय संविधान के अन्तरंग में भी उपस्थित हैं और वहिरंग में भी। संविधान के अन्तरंग में उपस्थित प्रमुख एकात्मक तत्व हैं– शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में, संघ और राज्यें के लिए एक ही संविधान, इकहरी नागरिकता, केन्द्रीय सरकार राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ, एकीकृत न्याय–वयवस्था कानून लेखा परीक्षण तथा चुनाव व्यवस्था के सम्बन्ध में एकरूपता आर्थिक दृष्टि से राज्यों की दुर्बल स्थिति, राज्यें के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा और इन सबके अतिरिक्त संकटकाल में संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था में परिणत करने का प्रावधान।

2.3.5. भारतीय संघात्मक व्यवस्था :– स्वतंत्रता के उपरान्त 26 जनवरी 1950 में जो स्वतंत्र संविधान लागू हुआ उसमें संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही कहा गया है कि भारत राज्यें का एक संघ होगा। परन्तु भारतीय संविधान निर्माता संघीय शासन को अपनाते हुए भी संघीय शासन की दुर्बलताओं से परिचति थे तथा दूसरी ओर देष के एकता और अखण्डता के प्रति भी सजग थे। यही कारण है कि भारतीय संविधान के संघात्मक तत्वों को अपनाने के बाद भी उसमें एकात्मक तत्वों का समावेष किया गया। के. सी. व्हीयर के अनुसार, ''भारत के संविधान का स्वरूप संघात्मक है, परन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।'' वास्तव में भारतीय संविधान में संघात्मक एवं एकात्मक तत्व दोनों ही विद्यमान हैं।

2.3.6. सारांष :– उपर्युक्त विष्लेषण से इस बात की स्पष्ट पुष्टि होती है कि संघात्मक शासन व्यवस्था लोकप्रिय सिद्ध हुई है। उसकी अच्छाइयों के कारण आधिक से अधिक देषों ने उसे अपनाया है। तथा अनेक देषें ने एकात्मक शासन व्यवस्था को छोड़कर संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया है।

इस प्रकार जैसे–जैसे राजनीतिक चिन्तन एवं व्यवाहर का विकास हुआ है, वैसे–वैसे संघात्मक शासन व्यवस्था को अधिक से अधिक देषें ने अपनाया है। यही कारण है कि संघात्मक शासन को प्रौढ़ एवं विकसित राजनीतिक चिन्तन तथा संवैधानिक व्यवस्था के साथ जोड़ा जाता है।

संघवाद की सफलता को दृष्टि में रखकर हम पूरे विष्वास के साथ कह सकते हैं कि इसका भविष्य अत्यन्त उज्जवल है तथा आने वाले भविष्य में अधिक से अधिक राज्य ही नहीं, पूरे विष्व में एक संघ सरकार स्थापित की जाएगी।

आधुनिक समय में राजनीतिक व्यवस्थाओं की विखरी हुई गत्यात्मक शक्तियों तथा उनकी कार्य विधियों की जटिलताओं से संघ–राज्य सम्बन्धों में न केवल नए आयाम उभरें हैं, बल्कि उन्होंने संघवाद को नये विचार भी दिए हैं माइकस एफ. फ्रैंडा के शब्दों में, ''संघवाद एक स्थित मॉडल या राजनीतिक संगठन का सूत्र ना होकर जन आधारित दलों, व्यापक नौकरषाही, विविध प्रकार के अनेक हित समूहों तथा वृद्धिरत कार्यों वाली निर्वाचित सरकारों की अन्तः क्रिया से उत्पन्न निरन्तर परिवर्तनषील प्रक्रिया है।''

संघवाद एक विधि के रूप में युग की आवष्यकताओं से अछूता नहीं रह सकता है। राजनीतिक समाजों में विचार–धाराओं की उथल–पुथल तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक तत्वों के प्रभाव ने केन्द्रीय एवं प्रादेषिक सरकारों को अधिकाधिक सहयोग करने के लिए प्रेरित किया है। अमल राय के अनुसार ''संघीय व्यवस्था में दो प्रकार की सत्ताओं को राष्ट्रीय उद्देष्यों की पूर्ति में सहयोगी बनाया जाता है।'' यही कारण है कि आधुनिक राजनीतिक सभाओं में संघवाद एक गतिषील सहयोग की प्रक्रिया के रूप में देखा जाने लगा है। अब संघवाद के सिद्धान्त की परम्परागत धारणा के अनुसार केन्द्रीय एवं राज्यों की सरकारों को एक दूसरे से पृथक, स्वतंत्र तथा क्षेत्र विषेष में सीमित केवल संवैधानिक दृष्टि से ही माना जाता है। व्यवहार में यह अन्तर समाप्त प्राय है।

संघवाद का भविष्य भी अत्यन्त उज्जवल प्रतीत होता है उसके पीछे प्रमुख कारण है–

- विष्व में लोकतंत्र का विकास हो रहा है तथा लोकतंत्र का संघवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि संघात्म्क व्यवस्था में जनता को राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने तथा राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के अधिक अवसर मिलते हैं।

- वर्तमान युग की जटिल समस्याओं को समाधान केवल बड़े राज्य ही कर सकते हैं तथा बड़े राज्यों का संगठन केवल संघवाद के सिद्धान्त पर ही किया जा सकता है।

- हमारा विष्व बड़ी तेजी के साथ विष्व राज्य की ओर बढ़ रहा है जिसका कारण यह है कि आज के विष्व की जटिल समस्याओं जैसे–आतंकवाद, प्रदूषण, खतरनाक रोगों का विस्तार, संगठित अपराध इत्यादि का समाधान केवल विष्व राज्य में ही सम्भव है। विष्व राज्य की स्थापना के लिए संघवाद अपरिहार्य है।

- राजनीतिक जागरूकता के बढ़ने के साथ क्षेत्रीय असन्तुलन की ओर लोगों का ध्यान गया है, जिसके कारण लोगों में क्षेत्रीय आकांक्षायें उत्पन्न हुई हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए संघवाद अपरिहार्य है।

2.3.7.दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1. शक्तिषाली केन्द्र होते हुए भी भारतीय संविधान संघीय है। व्याख्या कीजिए।
2. भारती संघवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. भारतीय संघवाद के संघीय स्वरूप का परीक्षण कीजिए।
4. संघवाद की उपयोगिता एवं भविष्य पर निबन्ध लिखिए।
5. संघवाद की प्रकृति एवं प्रतिमानों पर प्रकाष डालिये।

2.3.8. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1. सघवाद व्यवस्था क्या है।
2. संघवाद के लक्षया क्या है।
3. सौदेबाजी का संघवाद क्या है।
4. सहयोगी संघवाद स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय संघात्मक व्यवस्था के लक्षण।

2.3.9. बहु विकल्पीय प्रष्न

1. भारतीय नागरिकों को कितन प्रकार की नागरिकता प्राप्त है?
   (क) एक (ख) दो
   (ग) तीन (घ) चार
2. संघात्मक राज्य के अन्तर्गत सर्वोच्च होता है?
   (क) राष्ट्रपति (ख) प्रधानमंत्री
   (ग) संविधान (घ) संसद
3. केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों के मध्य विवाद का निर्णय कौन करता है।
   (क) सर्वोच्च न्यायालय (ख) उच्च न्यायालय
   (ग) संसद (घ) प्रधानमंत्री
4. के. सी. व्हीयर के मतानुसार भारतीय संविधान है–
   (क) संघीय (ख) एकात्मकद
   (ग) अर्द्ध संघीय (घ) परिसंघीय
5. राज्य सभा में प्रतिनिधित्व आधारित है।

(क) समानता के सिद्धान्त पर (ख) जनसंख्या के आधार पर
(ग) भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर (घ) उपर्युक्त में से कोई नही

2.3.10. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिष्चन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

ईकाई –4 केन्द्र राज्य सम्बन्धों के उभरते प्रतिमान, स्वायत्ता की मॉगे और पृथकतावादी आन्दोलन

इाकई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देष्य
2.4.1. प्रस्तावना
2.4.2. भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्ध
2.4.3. केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधाई सम्बन्ध,
  2.4.3.1. संघीय सूची
  2.4.3.2. राज्य सूची
  2.4.3.3. सम्वर्ती सूची
  2.4.3.4. अवषेष विषय,
  2.4.3.5. राज्य सूची के विषयों पर संसद की व्यवस्थापन की शक्ति,
  2.4.3.6. राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर,
  2.4.3.7. राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट होने पर
  2.4.3.8. संकटकाल की घोषणा होने पर,
  2.4.3.9. विदेषी राज्येां से हुई सन्धियों के पालन हेतु,
  2.4.3.10. राज्यों के संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर,
2.4.4. भारतीय संघ में केन्द्र राज्य प्रषासनिक सम्बन्ध
  2.4.4.1. राज्यों के ऊपर संघीय नियन्त्रण क उपाय,
  2.4.4.2. राज्य सरकारों को निर्देष,
  2.4.4.3. राज्य सरकरों के संघीय कृत्य सौपना
  2.4.4.4. अखिल भारतीय सेवाएं
  2.4.4.5. सहायता अनुदान,
  2.4.4.6. आपातकाल की घोषणा,
  2.4.4.7. केन्द्र राज्य मतभेदों के निवारण की विधियॉ,
  2.4.4.8. संघीय क्रियाओं अभिलेखां तथा न्यायिक कार्यवाहियों को मान्यता प्रदान करना।
  2.4.4.9. अन्तर्राज्यीय नदियों या नदी क`जल सम्बन्धी विवादों का निर्णय,
  2.4.4.10. अन्तर्राज्य परिषद की व्यवस्था,
  2.4.4.11. क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण,
2.4.5. भारतीय संघ में केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध
  2.4.5.1. कर निर्धारण, शक्ति का वितरण और करों को प्राप्त आय का विभाजन,
  2.4.5.2. सहायता अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उद्देष्यों के लिए दिया जाने वाला अनुदान।
  2.4.5.3. ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध,
  2.4.5.4. करों की विमुक्ति,
  2.4.5.5. भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक द्वारा नियंत्रण,
  2.4.5.6. वित्तीय संकटकाल,
2.4.6. स्वायत्तता की मॉगे एवं पृथकतावादी आन्दोलन
2.4.7. केन्द्र राज्य सम्बन्धेां की विशेषताऍ,

2.4.7.1. शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार,
2.4.7.2. राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य,
2.4.7.3. सहकारी संघवाद
2.4.7.4. भातरीय संघ को आत्मा एकात्मक,
2.4.8. केन्द्र राज्य मतभेदों के निवारण की शक्तियॉ,
2.4.9. उपसंहार
2.4.10. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न
2.4.11. लघु उत्तरीय प्रष्न
2.4.12. बहु विकल्पीय प्रष्न
2.4.13. सन्दर्भ ग्रन्थ

2.3.0. उद्देष्य

इस पाठ का उद्देष्य–

- विद्यार्थियों को केन्द्र राज्य के मध्य वित्तीय, प्रषासनिक एवं विधाई सम्बन्धों के विषय में बोध कराना है।
- स्वायत्ता की मॉगों के विषय में अवगत कराना है।
- केन्द्र राज्य सम्बन्धों की विशेषताओं का ज्ञान कराना है और
- केन्द्र राज्य के मध्य मतभेदों के निवारण की विधियेां से अवगत कराना है।

2.4.1. प्रस्तावना

''वर्तमान समय में राज्यों के पास सीमित साधन हैं और अपनी अधिकांष विकास योजनाओं के लिए उन्हें केन्द्र की सहायता की आवष्यकता रहती है, इसलिए उन्हें केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता है। कभी–कभी केन्द्र के आदेषों के आगे झुकना पड़ता है।''

–एम. वी. पायली

संघीय संविधान राष्ट्रीय प्रभुता तथा राज्य प्रभुता के बीच, जो कि ऊपरी दृष्टि से विरोधी जान पड़ती है, सामंजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। संविधान के अन्तरंग में ही कुछ ऐसे उपबन्ध होते हैं जो सामंजस्य के तौर–तरीकों पर प्रकाष डालते हैं। केन्द्र एवं राज्येां की सरकारों के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धेां की स्थापना करने वाली संघीय प्रणाली को 'सहकारी संघवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिषाली तो होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमजोर नहीं होती है। साथ ही, दोनें ही सरकारों की एक–दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है। संघवाद का बुनियादी तत्व है–षक्तियों का विभाजन, सहकारी संघवाद में शक्तियों के विभाजन के उपरान्त भी केन्द्र एवं राज्येां के बीच अन्तःक्षेत्रीय सहयोग पर बल दिया जाता है। यह सहयोग केन्द्रीय एवं प्रादेषिक सरकारों के बीच ही नहीं, अपितु विभिन्न प्रादेषिक सरकारों एवं असंख्य राजनीतिक संरचनाओं के मध्य भी दिखलाई देता है। भारतीय संविधान में ऐसी स्थिति को अपनाने की चेष्टा की गई है।

किन्तु भारतीय संविधान का स्वरूप संविधान विषेषज्ञों के मध्य विवाद का विषय बना हुआ हैं डॉ. सुभाष कष्यप लिखते हैं कि, ''प्रष्न जो प्रायः उठाया जाता है

है वह है किन्द्र और राज्यों के विगड़ते हुए सम्बन्ध का तथा संघात्मक व्यवस्था के भविषय का। यहॉ भी हम एक भारी भ्रान्ति के षिकार हैं और वह यह कि भारतीय संविधान संघात्मक है अथवा फेडरल। क्या हम ऐसी संवैधानिक व्यवस्था को 'फेडरल' कह सकते हैं जिस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय संसद जब चाहे राज्येां के नाम, सीमाएं, आकार, क्षेत्र बदल सकती हो, उनका विभाजन कर सकती हो, उनके क्षेत्र के टुकड़े कर पड़ोसी राज्येां में बांट सकती हो और मानचित्र से किसी राज्य विषेष को पूर्णतया मिटा सकती हो, जब चाहे राज्यों के प्रतिनिधि सरकार को समाप्त कर सकती हो और किसी भी राज्य या राज्येां का शासन सीधे अपने हाथों में ले सकती हो।''

इस विवाद का मुख्य बिन्दु यह हे कि भातरीय व्यवस्था संघीय है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण सामने आये उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।–

वैधानिक एवं संस्थागत विचारधारा के अन्तर्गत यह कहा जा सकता है कि हमारा संविधान संघीय है, यद्यपि उसकी संघीयता की मात्रा के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक हैं।

दूसरी ओर व्यावहारिक विचारधारा की यह धारणा है कि नियोजन के फलस्वरूप भारत में न केवल संघीय व्यवस्था का ही अन्त हो गया है, अपितु संसदीय प्रणली भी लुप्त होती सी लगती है।

2.4.2. भारत में केन्द्र राज्य समबन्ध :– कोई भी संघात्मक शासन प्रणाली वाला देष आज दावा नहीं कर सकता है कि वह केन्द्र–राज्य मतभेदों की समस्या से पूर्णतया उन्मुक्त है यथार्थ में, संघ–व्यवस्था, जिसका आधार परस्पर सामंजस्यपूर्ण हिस्सेदारी की भावना है, को तनावों का संस्थाकरण (Institution alesed Tension) करने वाली व्यवस्था भी कहा जा सकता है।

अमरीका के संविधान के विपरीत जिसमें केवल केन्द्र सरकार की शक्तियों का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है और अवषेष शक्तियॉ राज्येां को दी गई हैं, भारत के संविधान ने केन्द्र तथा राज्येां के बीच शक्तियों के वितरण की एक अधिक निष्चित और सुस्पष्ट योजना अपनाई है। संविधान के आधार पर संघ तथा राज्यों के सम्बन्धेां को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

- केन्द्र तथा राज्येां के बीच विधाई सम्बन्ध।
- केन्द्र तथा राज्येां के बीच प्रषासनिक सम्बन्ध
- केन्द्र तथा राज्येां के बीच वित्तीय सम्बन्ध।

2.4.3. केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधाई सम्बन्ध :– संघ व राज्यों के विधायी सम्बन्धेां का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है जिन्हें संघ सूची (Union List), राज्य सूची (State List) और समवर्ती सूची (Concurrent List) का नाम दिया गया है। इन सूचियों को सातवीं अनुसूची में रखा गया है।

2.4.3.1. संघीय सूची :– इन सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयेां को रखा गया है जिनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देष में एक ही प्रकार की नीति को अपनाना आवष्यक कहा जाता है। इस सूची के सभी विषयों में विधि–निर्माण का अधिकार संघीय संसद का प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय है जिनमे से कुछ प्रमुख ये हैं– रक्षा, वैदेषिक मामले, युद्ध व सन्धि, देषीकरण व नागरिकता, विदेषियों का आना–जाना, रेले, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाकतार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंक, बीमा, खाने व खनिज, आदि।

2.4.3.2. राज्य सूची :– इस सूची में साधारणतया के विषय रखे गये हें, जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की व्यवस्थापिकाओं को प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय हैं, जिनमें कुछ प्रमुख है– पुलिस, न्याय, जेल स्थानीय स्वषासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि सिंचाई और सड़के आदि।

2.4.3.3. समतर्वी सूची :– इस सूची में साधारणतया वे विषय रखे गये हैं, जिनका महत्व संघीय एवं क्षेत्रीय दोनों ही दृष्टियों से है। इस सूची के विषयों पर संघ तथा राज्यों दोनों को ही कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है। यदि इस सूची के किसी विषय पर संघीय संसद तथा राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों, तो सामान्यतः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 52 विषय है, जिनमें कुछ प्रमुख हैं– फौजदारी, विधि तथा प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह और विवाह–विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखानें, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, सामाजिक सुरक्षा और समाजिक बीमा, पुनर्वास और पुरातत्तव, षिक्षा और वन आदि।

2.4.3.4. अवषेष विषय :– संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड और आस्ट्रेलिया में अवेषष विषयों के समबन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाइयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में कनाड़ा के संघ की तरह अवषेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय व्यवस्थापिका को प्रदान की गई है।

2.4.3.5. राज्य सूची के विषयों पर संसद की व्यवस्थापन की शक्तिः– सामान्य तौर पर संविधान द्वारा किए गए इस शक्ति विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। लेकिन संसद के द्वारा कुछ विषेष परिस्थितियों के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय एकता हेतु राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकता है।

2.4.3.6. राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का होने पर :– संविधान के अनु. 249 के अनुसार यदि राज्यसभा अपने दो–तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची में उल्लिखित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो संसद को उस विषय पर विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसकी मान्यता एक वर्ष तक रहती है।

2.4.3.7. राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर :– अनु. 252 के अनुसार यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधान मण्डल प्रस्ताव पास कर यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून का निर्माण किया जाए, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियिम बनाने का अधिकास संसद को प्राप्त हो जाता है।

2.4.3.8. संकटकाल की घोषणा होने पर:– संकटकालीन घोषणा (अनु.250) की स्थिति में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। इस घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित कानून पूर्ववत् चलते रहेंगे।

2.4.3.9. विदेषी राज्यों से हुई सन्धियों के पालन हेतु (अनु. 253):– यदि संघ सरकार ने विदेषा राज्येां से किसी प्रकार की सन्धि की है अथवा उनके सहयोग के आधार पर किसी नवीन योजना का निर्माण किया है तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत की सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्ण तथा हस्तक्षेप और व्यवस्था करने का अधिकार होगा।

2.4.3.10. राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर (अनु. 256) :– यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाए या संवैधानिक यंत्र विफल हो जाए तो राष्ट्रपति राज्य विधान–मण्डल के समस्त अधिकार भारतीय संसद को प्रदान करता है।

2.4.4. भारतीय संघ में केन्द्र–राज्य प्रषासनिक सम्बन्ध:– भारतीय संविधान के ग्यारहवें भाग के दूसरे अध्याय में केन्द्र तथा राज्यों के बीच प्रषासनिक सम्बन्धेां की चर्चा की गई है।

श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में, ''संघ सरकार की सफलता और दृढ़ता सरकारों (केन्द्रीय सरकार तथा इकाईयों की सरकारों) के बीच अधिकाधिक सहयेाग तथा सम्बन्ध पर निर्भर करती है''। भारत में संघ और राज्यों के बीच प्रषासनिक सम्बन्ध निर्धारित करने वाले उपबन्धों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

- राज्यों के ऊपर संघीय नियंत्रण के उपाय,
- राज्यों में बराबर सौजन्य स्थापित करने के उपाय।

2.4.4.1. राज्यों के ऊपर संघीय नियंत्रण के उपाय :– संकटकाल में केन्द्रीय सरकार का राज्य सरकार के ऊपर पूर्ण नियंत्रण रहता है। नियंत्रण के निम्नलिखित साधनों को अपनाया गया है।

2.4.4.2. राज्य सरकारों को निर्देष :– अनु. 256 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका का प्रयोग इस प्रकार होगा कि संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पालन सुनिष्चित रहे। संघीय कार्यपालिका को यदि वह आवष्यक समझें तो इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को आवष्यक निर्देष देने का अधिकार प्राप्त है। ऐसा उपबन्ध इसलिए किया गया है कि संसद द्वारा पारित विधियों के क्रियान्वयन के मार्ग में कोई बाधा न पहुचे।

2.4.4.3. राज्य सरकारों को संघीय कृत्य सौंपना :– अनु. 258 में निर्धारित शर्तों के अनु. संघ राज्यों को अपने कुछ प्रषासनिक कृत्य हस्तान्तरित कर सकता है और राज्य संघ को अपने कुछ प्रषासनिक कृत्य सौंप सकते हैं।

2.4.4.4. अखिल भारतीय सेवाएंः– संविधान संघ तथा राज्य सरकारों के लिए अलग–अलग सेवाओं की व्यवस्था करता है, लेकिन कुछ ऐसी सेवाओं को भी व्यवस्था करता है, जो संघ एवं राज्य सरकारेां के लिए सामान्य हैं, उन्हें अखिल भारतीय सेवाएं कहते हैं। यद्यपि इन सेवाओं के सदस्यों द्वारा वेतन, भत्ते, आदि राज्य सरकारों से प्राप्त किए जाते हैं, लेकिन उनकी वेतन श्रृंखला और अन्य उपलब्धियॉ केन्द्र सरकार द्वारा ही निष्चित की जाती हैं।

2.4.4.5. सहायता अनुदान :– अनु. 275 के अनुसार संसद राज्येां को आवष्यकतानुसार सहायता व अनुदान भी दे सकती है। अनुदान देते समय संसद राज्येां पर कुछ शर्तें लगाकर उनके व्यय को भी नियंत्रित कर सकती है।

2.4.4.6. आपातकाल की घोषणा :– इन सबके अतिरिक्त जब राष्ट्रपतिअनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा करते हैं तब राज्येां पर संघीय सरकार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है।

2.4.4.7. केन्द्र राज्य मतभेदों के निवारण की विधियॉ :– संघीय शासन प्रणाली में पारस्परिक सहयोग होना आवष्यक है। यद्यपि राज्येां को पृथक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं तथापि संविधान में निम्नलिखित विषयेां पर राज्येां के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया गया हैः–

2.4.4.8. संघीय क्रियाओं, अभिलेखेां तथा न्यायिक कार्यवाहियों को मान्यता प्रदान करना :– अनु. 261 के अनुसार, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखेां तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी मान्यता दी जाएगी। यह भी आयोजित किया गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयेां द्वारा दिये गये निर्णय तथा आदेष उस राज्य क्षेत्र के अन्दर सभी स्थानेां पर निष्पादित किए जाएंगे।

2.4.4.9. अन्तर्राज्यीय नदियों या नदी के जल सम्बन्धी विवादें का निर्णय :– अनु. 262 के अनुसार, किसी अन्तर्राज्यीय नदी तथा घाटी के या जलाषयों के प्रयोग, वितरण, विवाद या फरियाद के न्याय निर्णय के बारे में संसद विधि द्वारा व्यवस्था करेगी। ऐसे विवाद के सम्बन्ध में संसद यह निर्णय भी कर सकती है कि सर्वोच्च

न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं करेगा।

2.4.4.10. अनतर्राज्य परिषद की व्यवस्था :– अनु. 263 के अन्तर्गत, राज्यों के पारस्परिक सहयेाग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद का प्रावधान किया गया है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि यह सार्वजनिक हित में आवष्यक है तो अन्तर्राज्जीय परिषद की स्थापना की जा सकेगी। इस परिषद का कार्य राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्ष देना है।

2.4.4.11. क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण :– क्षेत्रीय परिषदें का निर्माण भी किया जा सकता है। क्षेत्रीय परिषदों के कार्य उन विषयें से सम्बन्धित होंगे जिनमें क्षेत्र के सभी या कुछ राज्य या संघ और एक या अधिक राज्य रूचि रखते हैं।

- **अन्तर्राज्यीय व्यापार–** वाणिज्य से सम्बन्धित संविधान के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए अनुच्छेद 307 के अनुसार संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियां और कर्तव्य सौंप सकती है जो वह आवष्यक समझे।

- इसके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि इनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती है। उदा. के लिए– निर्वाचन, लेखा परीक्षण, राज्यपाल की नियुक्ति, आदि।

2.4.5. भारतीय संघ में केन्द्र–राज्य वित्तीय सम्बन्ध :– केन्द्र तथा राज्येां के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त हैं– कार्य क्षमता पर्याप्तता तथा उपयुक्तता। इन तीनें उद्देष्यों की एक साथ ही प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः भातरीय संविधान में समझौते की चेष्टा की गई। संविधान द्वारा केन्द्र एवं राज्येां के मध्य वित्तीय सम्बन्धें का निरूपण इस प्रकार किया जाता है।

2.4.5.1. कर निर्धारण, शक्ति का वितरण और करों से प्राप्त आय का विभाजनः– भारतीय संविधान में वित्तीय प्रावधानों की दो विशेषताएं हैं प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य कर–निर्धारण की शकित का पूर्ण विभाजन कर दिया गया है और द्वितीय, करों से प्राप्त आय का बटॅवारा हेाता है।

2.4.5.2. सहायता अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उद्देष्य के लिए दिया जाने वाला अनुदान :– संविधान के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यों को चार तरह के सहायक अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। प्रथम, पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है उसमें से कुछ भाग अनुदान के रूप में जूट पैदा करने वाले राज्येां–विहार, पं. बंगाल, असम व उड़ीसा को दे दिया जाता हैं द्वितीय, प्राकृतिक आपादा ग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिए भी केन्द्रीय सरकार राज्येां को अनुदान दे सकती है। तृतीय, जनजातियों व कबीलों की उन्नत व उनके कल्याण की योजनाओं के लिए भी सहायक अनुदान दिया जाता है।

चतुर्थ, राज्यों को आर्थिक कठिनाइयों से उबारने के लिए केन्द्र राज्यों की वित्तीय सहायता कर सकता है।

2.4.5.3. ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध :– संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देषवासियों व विदेषी सरकारों से ऋण ले सके। ऋण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेषी से उधार नहीं ले सकते।

2.4.5.4. करों की नियुक्ति :– राज्यों द्वारा संघ की सम्पत्ति पर कोई कर तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दे। इसी प्रकार संघ सरकार भी राज्य की सम्पत्ति और आय पर कर नहीं लगा सकती।

2.4.5.5. भारत के नियंत्रण–महालेखा परीक्षक द्वारा नियंत्रण :– नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संसद राज्यों की आय पर अपना नियंत्रण रखती हैं।

2.4.5.6. वित्तीय संकटकाल :– वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगित करने का अधिकार है जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करों की आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देष दे सकती है।

निष्कर्षतः, यह कहना उचित है कि भातरीय संघवाद की सामान्य प्रकृति अर्थात् 'केन्द्रीयता' के अनुकूल ही इन उपबन्धों की योजना हुई है। प्रो. एस. वी. पायली के शब्दों में, ''वर्तमान स्थिति में राज्यों के पास सीमित साधन हैं तथा अपनी अधिकांष विकास योजनाओं के लिए उन्हें केन्द्र की सहायता की आवष्यकता रहती है, इसीलिए उनहें केन्द्र का नेतृत्व स्वीाकर करना पड़ता है। कभी–कभी केन्द्र के आदेषों के आगे झुकना भी पड़ता है।

2.4.6. स्वायत्ता की मॉगे एवं पृथकतावादी आन्दोलन :– चतुर्थ आम चुनाव के बाद कई राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों ने अकेले या संयुक्त मोर्चे की गैर–कांग्रेसी सरकारें का निर्माण किया। इन गैर कांग्रेसी सरकारें विषेषतया तमिलनाडु की द्रविड़ मुनेत्र कड़गम सरकार के द्वारा राज्यों के लिए अधिक स्वायत्ता की मांग की गयी।

1963 से लेकर 1971 के लोकसभा चुनाव के बाद तक स्वायत्ता की मॉगों को अधिक बल से उठाया जाता रहा गया। 1977 में राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के बाद स्वायत्ता की मांग को पुनः उठाया गया। अब इस प्रकार की मांग पष्चिमी बंगाल के वामपन्थी मोर्चे की सरकार और उसके मुख्यमंत्री ज्योति बसु द्वारा की गई। उनहोंने घोषणा की कि स्वायत्ता के प्रष्न पर विचार के लिए षीघ्र ही दिल्ली में एक सेमिनार आयोजित की जायेगी, जिसमें सभी मुख्य–मंत्रियों को आमंत्रित किया जायेगा। वामपन्थी मोर्चे की सरकार

द्वारा एक परिपत्र भी तैयार किया गया एवं सभी राज्यों को भेजा गया जिसमें 7 मांगे थीं।

- केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेष सम्बन्ध, विदेष व्यापार, मुद्रा संचार तथा आर्थिक समन्वय जैसे विषय ही रहने चाहिए। बाकी बचे सभी विषय राज्यों को दिये जायें। अवषिष्ट शक्तियां राज्यों को दे दी जाएं।

- संविधान की धारा 356 व 357 पूर्ण रूप से समाप्त कर दी जायें तथा राज्यपाल के पद को पूर्ण संवैधानिक बनाया जाए।

- संविधान की प्रस्तावना में 'यूनियन' शब्द के स्थान पर 'फेडरेषन' शब्द को अपनाया जाए।

- राज्य विधानमण्डल के द्वारा पारित कानून किसी भी स्थिति में राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित नहीं रखना चाहिए।

- योजना आयोग के स्वरूप तथा गठन का निष्चय राष्ट्रीय विकास परिषद के द्वारा किया जाना चाहिए।

- केन्द्र सरकार की आय का 75 प्रतिषत भाग राज्यों को दिया जाना चाहिए।
- राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचना जनता द्वारा किया जाना चाहिए। राज्यसभा में सभी राज्यों का प्रतिनिधित्व समान होना चाहिए तथा दोनों सदनों के अधिकार भी समान होने चाहिए।

यद्यपि जम्मू–कष्मीर राज्य को भारतीय संघ के अन्य राज्यों की तुलना में अधिक स्वायत्तता प्राप्त है लेकिन फिर भी जम्मू–कष्मीर राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा भी राज्यों के लिए अधिक स्वायत्ता की मांग की गई। तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने इस बात को तो स्वीकार किया कि स्वायत्ता या अन्य किसी भी प्रष्न पर मुख्यमंत्री या अन्य किसी भी व्यक्ति के साथ विचार–विमर्ष किया जा सकता है, किन्तु उनहोने इस मांग को पूर्णतया ठुकरा दिया कि केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए। 1980–85 के वर्षों में विपक्षी दलों और गैर–कांग्रेस 'इ' शासित' राज्य सरकारें द्वारा स्वायत्ता की मांग की जाती रही है।

मार्च–अप्रैल 1991 में उड़ीसा के मुख्यमंत्री और जनता दल के एक नेता बीजू पटनायक द्वारा भी स्वायत्ता का प्रष्न उठाया गया। उन्होंने प्रधानमंत्री को लिखे पत्र में कहा कि केन्द्र सरकार के पास केवल रक्षा, विदेष और मुद्दा का अधिकार होना चाहिए। राज्यों को यह अधिकार दिया जाये कि वे अपनी विकास की योजना स्वयं बनायें और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थानों से सीधे समझौते कर सकें।

यद्यपि राज्यों के लिए अधिक शक्तियेां और वित्तीय साधनों की मांग अनेक बार चुनावी राजनीति के मुद्दे के रूप में की जाती है, लेनि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि राज्यों को अधिक अधिकार विषेषतया आर्थिक क्षेत्र में अधिक अधिकारों के प्रष्न पर गम्भीरता के साथ विचार करने की आवष्यकता है। भारतीय संघ के पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण द्वारा भी विचार प्रस्तुत किया गया कि ''यदि हम समाज में विभाजनकारी शक्तियेां को नियंत्रित करना चाहते हैं तो हमें राज्येां के लिए अधिक स्वायत्ता की मांग पर विचार करना और उसके साथ सामंजस्य स्थापित करना हेागा।'' यह बात उनके द्वारा 7 मई, 1992 को मौलाना आजाद स्मृति भाषण में कही गई।

2.4.7. केन्द्र–राज्य सम्बन्धेां की विशेषताएँ :– संविधान द्वारा प्रस्तुत केन्द्र–राज्य सम्बन्धेां का विष्लेषण करने में निम्न तत्य उभरते हैं–

2.4.7.1. शक्तिषाली केन्द्रीय सरकार :– संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिषाली बनाया है। वह किसी भी सूची के विषय पर कानून बना सकती है। वह अवषिष्ट शक्तियेां का उपभोग कर सकती है और राज्यपाल के माध्यम से राज्येां पर पूर्ण नियंत्रण रखती है।

2.4.7.2. राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य :– संघ एवं राज्यों के बीच षक्तियों का वितरण इस प्रकार किया गया है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समतुल्य हो गयी है। जिस प्राकर नगर–पालिकांए राज्य सरकारों पर पूर्णतः निर्भर हैं, उसी प्रकार राज्य सरकारें भी सभी क्षेत्रों में संघ सरकार पर निर्भर हैं।

2.4.7.3. सहकारी–संघवाद :– ग्रेनविल ऑटिन के अनुसार ''भारत की विषिष्ट आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए संविधान सभा ने एक विषिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया है।'' इसे ए. एच. बर्च ने 'सहकरी संघवाद' की संज्ञा दी है। इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिषाली होती है, किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमज़ोर नहीं होती, दोनों ही सरकारेां की एक–दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता है।

2.4.7.4. भारतीय संघ की आत्मा एकात्मकः– राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा किए जाने पर राज्येां की स्वायत्ता को स्थगित किया जा सकता है, और इस दिषा में राष्ट्रपति राज्य का सारा कामकाज अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता है। केन्द्र की शक्तियॉ आपातकाल में ही नहीं बल्कि सामान्य काल में भी बढ़ाई जा सकतीा है।, अतः भारत संघ की आत्मा एकात्मक कही जा सकती है।

2.4.8. केन्द्र–राज्य मतभेदों के निवारण की षक्तियॉः– अनु. 261 के अुनसार, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सर्वाजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों की पूरी मान्यता दी जाएगीं इनकी प्राथमिकता सिद्ध करने की नीति और शर्ते तथा उनके प्रभाव का निर्धारण संसद द्वारा उपबन्धित रीति के अनुसार होगा। यह भी आयोजित किया गया है कि भारत के

राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णय तथा आदेष उस राज्य के अन्दर सभी स्थानों पर निष्पादित किये जायेंगे।

- अनु. 262 के अनुसार, किसी अन्तर्राज्यीय नदी तथा घाटी के या जलाषयों के प्रयोग, वितरण, विवाद की फरियाद के न्याय निर्णय के बारे में संसद विधि द्वारा व्यवस्था करेगी।

- अनु. 263 के अन्तर्गत राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्जीय परिषद का प्रावधान किया गया हैं इस परिषद का मुख्य कार्य राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्ष देना है।

- क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण भारत को पांच क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए क्षेत्रीय परिषद है। क्षेत्रीय परिषदों के कार्य उन समस्त विषयों से सम्बन्धित होते हैं जिनसे क्षेत्र के सभी या कुछ राज्य या संघ और एक या अधिक राज्य रूचि रखते हैं।

- अन्तर्राज्यीय व्यापार–वाणिज्य से सम्बन्धित संविधान के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए अनु. 307 के अनुसार संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियां व कर्त्तव्य सौंप सकती है जो वह आवष्यक समझे।

- इनके अतिरिकत कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती है उदा. के लिए, निर्वाचन, लेखा परीक्षण, राज्यपाल की नियुक्ति आदि।

2.4.9. उपसंहार : देष के इतिहास और संघात्मक व्यवस्था का पाठ यह है कि देष की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार तथा राज्य में विकास के लिए राज्य स्तर पर शक्तिषाली सरकार होनी चाहिए। वस्तुतः शक्तिषाली केन्द्र और शक्तिषाली राज्य, इन दोनों स्थितियों में कोई आपसी विरोध नहीं है। मूल बात यह है कि केन्द्र तथा राज्य के आपसी सम्बन्धों का संचालन दलीय दृष्टिकोण के आधार पर नहीं, वरन् राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आधार पर किया जाना चाहिए।

यद्यपि राज्यों को विकास कार्यों में अधिकाधिक सम्भव सीमा तथा स्वायत्तता दी जानी चाहिए, लेकिन विघटनकारी एवं पृथकतावादी प्रवृत्तियों को रोकना भी आवष्यक है।

यह सच है कि केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाकृत शक्तिषाली स्थिति ने राज्य सरकरों की स्थिति को प्रभावित किया है, किन्तु फिर भी राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रषासनिक इकाइयां मात्र नहीं है। ग्रेनविल ऑस्टिन लिखते हैं– ''भारत नई दिल्ली

नहीं बल्कि राज्येां की राजधानियां भी है। राज्य केन्द्रीय सहायता के आकांक्षी हैं, किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनेां तक कायम नहीं रह सकता। राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों के क्रियान्वयन का माध्यम हो सकती है, किन्तु उनकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती। वस्तुत दोनों ही एक–दूसरे पर निर्भर हैं।''

अन्त में भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीष पी. बी. गजेन्द्र के शब्देां में कहा जा सकता है कि, ''संविधान के प्रावधानों में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवष्यकता नहीं है, वरन् संघ तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धेां के सुचारू संचालन के लिए स्वस्थ संघात्मक परम्पराओं को अपनाये जाने की आवष्यकता है।''

2.4.10. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1. विधाई एवं प्रषासनिक क्षेत्रों के केन्द्र–राज्य सम्बन्धेां की विवेचना कीजिए।
2. केन्द्र एवं राज्येां के मध्य वित्तीय सम्बन्धेां की विवेचना कीजिए।
3. पिछले लगभग दो दषकों में 'राज्यों की स्वायत्ता' की जो मांग की जाती रही हैं, उसका वर्णन तथा मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।
4. केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर निबन्ध लिखित।

2.4.11. लघु उत्तरीय प्रष्न :–

1.भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।
2.संघीय सूची क्या हैं
3.राज्य सूची के मुख्य विषय।
4.समवर्ती सूची क्या है।
5.राज्य के ऊपर संघीय नियंत्रण के उपाय।

2.4.12. बहु विकल्पीय प्रष्न–

1) संघीय सूची में विषयों की कुल संख्या है।
(क) 32 (ख) 47
(ग) 66 (घ) 97

2) अवषिष्ट विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति है।
(क) केन्द्र सरकार के पास (ख) राज्य सरकार के पास
(ग) राष्ट्रपति के पास (घ) संसद के पास

3) किस अनुच्छेद के तहत राज्येां को संघीय कृत्य सौपें जा सकते हैं?
(क) अनुच्छेद 258 (ख) अनुच्छेद 256
(ग) अनुच्छेद 260 (घ) अनुच्छेद 265

4) अनर्तराज्जीय परिषद का गठन किस अनुच्छेद के अन्तर्गत किया जाता है?

(क) अनुच्छेद 261 (ख) अनुच्छेद 263
(ग) अनुच्छेद 265 (घ) अनुच्छेद 267

5) समवर्ती सूची में कानून बनाने का अधिकार होता है।

(क) केवल केन्द्र सरकार को (ख) केवल राज्य सरकार को
(ग) केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकार दोनों को (घ) किसी को नही

2.4.13. संदर्भ सूची

1. भारत में लोक प्रषासन– हरिष्चन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3. भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5. राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6. तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7. राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8. भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9. राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10. भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

खण्ड–3 व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका

इकाई–1 राज्य सभा संगठन, कार्य एवं शक्तियॉ

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देष्य
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. संसद का गठन
3.1.3. राज्य सभा का गठन
3.1.4. राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियॉ
3.1.5. राज्य सभा का महत्व और औचित्य
3.1.6. राज्य सभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन
3.1.7. राज्य सभा के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य
3.1.8. सारांष
3.1.9. शब्दावली
3.1.10. संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.1.11. बोध प्रष्न

3.1.0. उद्देष्य

इस इकाई को पढ़ने से आप :

- संसद क्या है और इसका गठन कैसे होता है। इसके बारे में आप बता सकेंगे।
- राज्य सभा एवं राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियों के बारे में बता सकेंगे।
- राज्य सभा का महत्व और औचित्य बता सकेगे।
- राज्य सभा के विषेषाधिकार के विषय में बता सकेगे।
- राज्य सभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेगे।

3.1.1. प्रस्तावना :

अरस्तू के समय से इस बात को समानतः स्वीकार किया जाता है कि राजनीतिक शान्ति तीन मोटी श्रेणियों में बॉटी जा सकती है। प्रथम व्यवस्थापिका शक्ति, जो राज्य की इच्छा का निर्माण करती है और उसे व्यक्त करती है। प्रतिनिधि सभा होने के नाते विधान मण्डल लोकतन्त्रीय शासन में समाज के साधारण नियम कानून के रूप में बनाता है। द्वितीय कार्य पालिका यह देखना कि राज्य के नियमों का सब कोई ठीक तरह से पालन करते है या नहीं। तृतीय न्यायपालिका शक्ति है, जो यह देखती है कि क्या कानून किसी विषेष अवस्था में लागू होने योग्य है या नहीं।

3.1.2. संसद का गठन : (Composition of the Parliament) –

संविधान के अनुच्छेद 79 के द्वारा व्यवस्था की गई है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर होगा, जिनके नाम क्रमषः राज्य सभा तथा लोक सभा होंगे। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा ब्रिटिष संविधान की तरह राज्य के औपचारिक प्रधान को संससद का अंग माना गया है। 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गई थी। और वर्तमान समय में संघात्मक विधानों में द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की जाती है। अतः इनसे प्रेरणा लेते हुए भारतीय संविधान भी संघीय क्षेत्र में एक द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना रकता है। इस द्वि–सदनात्मक व्यवस्थापिका को संविधान के द्वारा 'संसद' (Parliament) का नाम दिया गया हे। संसद के निम्न तीन अंग है–

(1) राष्ट्रपति जो कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है लेकिन जिसकी कानून निर्माण के क्षेत्र में भी भूमिका है।

(2) लोक सभा (House of the People) जो प्रथम या निम्न सदन या लोकप्रिय सदन है। लोक सभा में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं।

(3) राज्य सभा (Councial of States) जो द्वितीय अर्थात् उच्च सदन का वरिष्ठ सदन है जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि होते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्य सभा तीनों का संयुक्त नाम 'संसद' है।

3.1.3. राज्य सभा का गठन : Composition of Council of States

राज्य सभा भारतीय संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। इसे लोक सभा की तुलना में कम शक्तियॉ प्राप्त हैं, लेकिन फिर भी इसका अपना महत्व और उपयोगिता है :

3.1.3.1. सदस्य संख्या और निर्वाचन पद्धति – संविधान के अनुच्छेद 80 में राज्य सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 निर्धारित की गई है जिनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद किए जाते है और 238 सदस्य राज्यों के और संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि हेाते है। तथापित राज्य सभा के सदस्यों की वर्तमान संख्या 245 है। जिनमें से 233 सदस्य राज्यों और संघ राज्य क्षेत्र दिल्ली तथा पाण्डुचेरी के प्रतिनिधि है। राष्ट्रपति द्वारा नामजद किये जाने वाले 12 सदस्य ऐसे व्यक्ति होगे जिन्हे साहित्य विज्ञान, कला, लौर समाज सेवा जैसे विषयों के संबन्ध में विषेष ज्ञान या व्यवहारिक अनुभव है। शेष सदस्य जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते है। इन सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार और खुले मतदान से संघ के विभिन्न राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाता है। जिन द्वोतों में विधानसभाएं नहीं होती वहा पर राज्य सभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विषेष निर्वाचक मण्डल गठित किये जाते हैं।

टिप्पणी– सन् 2003 में संसद द्वारा राज्यसभा की रचना पद्धति में दो परिवर्तन किए गए है। प्रथम, राज्य सभा के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवष्यक नहीं होगा, जिस राज्य से वह राज्यसभा का चुनाव लड़ना चाहता है। द्वितीय, गुप्त मतदना की व्यवस्था के कारण राज्यसभा के चुनाव में विधायक धन

प्रलोभन से प्रभावित होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए पाए गए है। इस भ्रष्ट आचरण को समाप्त करने के लिए राज्य सभा के चुनाव में गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान की व्यवस्था को अपनाया गया है।

3.1.3.2. स्थानो का आवंटन : संविधान की चौथी अनुसूची में राज्य सभा में राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को स्थानों के आवंटन का उपबंध है। स्थानों का आवंटन प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के आधार पर किया जाता है। राज्यों के पुनर्गठन तथा नए राज्यों के गठन के परिणामस्वरूप, राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को आवंटित राज्य सभा में निर्वाचित स्थानों की संख्या वर्ष 1952 से लेकर अब तक समय–समय पर बदलती रही है।

3.1.3.3. योग्यताएं एवं कार्यकाल (Qualification and Term :- संविधान के अनुच्छेद 84 में ससंद की सदस्या के लिए अर्हताए निर्धारित की गई है। राज्य सभा की सदस्यता के जिए निम्न अर्हताए (योग्यताएं) आवयक है।

(1) वह भारत का नागरित हो।

(2) उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो।

(3) वह किसी भी लाभ के पद पर न हो, विकृत मस्तिष्क न हो, दिवालिया न हो।

(4) ऐसी अन्य योग्यतांए रखता हो, जो संसद के किसी कानून द्वारा निष्चित की जाए।

टिप्पणी – अनुच्छेद 102 के अनुसार संघ अथवा राज्यों के मन्त्री पद लाभ के पद नहीं समझे गए है तथा यदि कभी यह प्रष्न उठता है कि संसद के किसी सदन का कोई सदस्य उपर्युक्त योग्यताएं रखता है अथवा नही ंतो यह प्रष्न निर्णय के लिए राष्ट्रति को सौंपा जाएगा तथा राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की राय के आधार पर जो निर्णय देगा, वह अन्तिम होगा।

राज्य सभा एक स्थाई सदन है। इसके सदस्यों का कार्य–काल 6 वर्ष होगा। इसे स्थायी सदन इसलिए माना गया है कि इसकी अवधि के पूर्व राष्ट्रपति इसे भंग नहीं कर सकते और पूरी राज्यसभा का चुनाव एक साथ नहीं होता है। राज्य सभा के सदस्यों का कार्यकाल यद्यपि 6 वर्ष है परन्तु उनमें से एक–तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष पष्चात् पदविकृत हो जाएंगे और नवीन एक–तिहाई सदस्य पद ग्रहण करेगे।

3.1.3.4. राज्यसभा के पादाधिकारी Officers of Council of States -

सवंधान के अनुच्छेद 89 (1) के अनुसार भारत का उप राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापित है। राज्य सभा का पदेन सभापित होने के नाते वह सभा की कार्यवाही का संचालन करता है। राज्य सभा के सदस्येां के विपरीत राज्यसभा के सभापित का कार्यकाल 5 वर्षों का ही होता है। राज्य सभा अपने सदस्यों में से एक उप सभापित का भी चयन करती है। राज्य सभा में उप सभाध्यक्षों का एक पैनल भी होता है, जिसके सदस्यों का नामनिर्देष सभापति, राज्यसभा द्वारा किया जाता है। सभापति और उपसभापित की अनुपस्थिति में उपसभाध्यक्षों के पैनल से एक सदस्य सभा की कार्यवाही का सभापतित्व करता है। लोक सभा के विपरीत राज्य सभा का सभापित अपना इस्तीफा उपसभापित को नहीं बल्कि राष्ट्रपति को देता हैं

3.1.4. राज्य सभा के कार्य एंव शक्तियॉ : Power and functions of the council of States

राज्य सभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता हैः

3.1.4.1. विधायी शक्तियॉ – लोक सभा के साथ–साथ राज्य सभा भी विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्यसभा दोनों को बराबर शक्तियॉ प्रदान की गई है। अवित्तीय विधेयक दोनों सदनों में से किसी भी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है। और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोक सभा में ही प्रस्तावित किये जाते हैं राज्य सभा में नहीं।

अनुच्छेद 108 के अनुसार किसी साधारण विधेयक के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्यसभा में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो उस विधेयक पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विचार किया जायेगा और विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर होगा।

टिप्पणी – Art. 108 के तहत संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। राष्ट्रपति द्वारा यह कार्य मन्त्रि परिषद के परामर्ष के आधार पर किया जाता है।

3.1.4.2. संविधान संषोधन की शक्ति – संविधान संषोधन के सम्बन्ध में राज्य सभा को लोक सभा के समान ही शक्ति प्राप्त है। संषोधन प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जाएगा।, जबकि संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग–अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुत से पारित कर दिया जाए। संषोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संविधान में संधोषन का प्रस्ताव गिर जायेगा।

टिप्पणी– संविधान संषोधन के प्रसंग में राज्यसभा की शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि 45वां संविधान संषोधन विधेयक (44 वां संवैधानिक संषोधन) उसी रूप में पारित हुआ, जिस रूप में राज्यसभा चाहती थी।

3.1.4.3. वित्तीय शक्ति – राज्य सभा को कुछ वित्तीय शक्ति प्राप्त है। यद्यपि इस सम्बन्ध में संविधान के द्वारा राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गयी है। संविधान के अनुसार वित विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जायेंगे। लोक सभा से स्वीकृत होने पर वित्त विधेयेक राज्यसभा में भेजे जाएगें, जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक इस विधेयक पर विचार किया जा सकेंगा। राज्यसभा वित्त विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोक सभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि उन प्रस्तावों को माने या न माने।

3.1.4.4. कार्य पालिका सम्बन्धी शक्ति – संसदात्मक शासन व्यवस्था में मन्त्रि–परिषद संसद के लोक प्रिय सदन के प्रति ही उत्तरदायी होती है। अतः भारत में भी मन्त्रि परिषद, लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। राज्य सभा के प्रति नहीं। राज्य सभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ

सकते है और उनकी आलोचना भी करत सकते है, परन्तु इन्हे अविष्वास प्रस्ताव द्वारा मंन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है।

3.1.4.5. विविध शक्तियॉ – उपर्युक्त शक्तियों के अलावा राज्य सभा को कुछ अन्य शक्तियॉ भी प्राप्त है जिनका प्रयोग वह लोक सभा के साथ मिलकर कर सकती है। ये शक्तियॉ और कार्य निम्न प्रकार हैं–

राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। राज्य सभा के सदस्य लोक सभा सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते है

1. राज्य सभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायाल के न्यायाधीषें तथा अन्य कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।
2. राज्य सभा लोक सभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उप राष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्य सभा में ही पारित होकर लोक सभा के पास जाता है।
3. एक महा से अधिक अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोक सभा तथा राज्य सभा दोनों से होना आवष्यक हैं लोक सभा के विघटन स्थिति में केवल राज्यसभा को अनुमोदन ही आवष्यक है। आपातकाल में मौलिक अधिकारों के निलम्बन के लिए दिए गए आदेष को भी यथाषीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिए।
4. बोम्बई मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के बाद राज्य की विधान सभा को विघटन तब तक नहीं किया जा सकता तब तक कि राष्ट्रपतीय उद्घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए।

3.1.4.6. विषेष अधिकार – राज्य सभा को दो ऐसे विषेष अधिकार प्राप्त है जो लोक सभा को प्राप्त नही है और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियों का सम्बन्ध देष के संघीय ढांचे से है और राज्य सभा को राज्यों का एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते इस प्रकार की शक्तियॉ प्राप्त हैं :

3.1.4.6.1. अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्य सभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर सकती है। राज्य सभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर संसद उस विषय पर कानून निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए पारित किया जाएगा, किन्तु उसका समय बढ़ाया जा सकता है।

3.1.4.6.2. संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार, राज्य सभा ही अपने दो–तिहाई बहुत से प्रस्ताव पास कर नयी अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दे, तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन अखल भारतीय सेवाओं को व्यवस्था नहीं कर सकती है।

3.1.5. राज्यसभा का महत्व और औचित्य

राज्य सभा की शक्तियों के अध्ययन से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सभा न केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन ही हैं शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति लार्ड सभा और अमरीकी सीनेट के बीच में ही कहीं हैं वास्तव में, संविधान निर्माताओं द्वारा राज्य सभा को प्रथम सदन के सहायक ओर सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गयी है, प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी सदन की नहीं लोक सभा की तुलना में निर्बल होते हुए भी उसकी स्थिति और शक्तियों का महत्व है।

पायली के शब्दों में, ''राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में राज्यसभा शासन तन्त्र का आवष्यक अंग है, केवल दिखावे मात्र का दूसरा सदन नहीं है।''

राज्य सभा उन सभी कार्यों को कर रही है जो परम्परागत रूप से द्वितीय सदन के द्वारा किये जाने है और भारत जैसे विषाल तथा संघात्मक व्यवस्था वाले देष के लिए संघात्मक व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक होना नितान्त स्वाभाविक और आवष्यक है।

सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण सफल रहा है और उसके अस्तित्व के औचित्य पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है। प्रो. जितेन्द्र रंजन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''यह न तो अमीरकी सीनेट या फ्रांस के चतुर्थ गणतन्त्र की गणतन्त्रीय परिषद की भॅति अत्यधिक दुर्बल।''

जापानी व्यवस्था की तरह द्वितीय सदन की निषेधात्मक शक्ति (VETO POWER) को हमारे संविधान में स्वीकार नहीं किया गया हें इसे सिर्फ दुहराने की पर्याप्त शक्ति दी गई है, निषेध की नही। राज्य सभा न केवल रचना की दृष्टि से विष्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ सदन है वरन् यह आधुनिक प्रजातन्त्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देष्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।''

3.1.6. राज्य सभा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

राज्य सभा की स्थिति को लेकर प्रारम्भ से ही विवाद रहा है। संविधान सभा का एक बहुत बड़ा बहुमत राज्य सभा की स्थापना के पक्ष में था, लेकिन दूसरी ओर सदस्यों के द्वारा द्वितीय सदन की उपयोगिता पर सन्देह व्यक्त करते हुए एक सदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना के प्रस्ताव भी लाए गए थे।

संविधान सभा के प्रमुख सदस्य डा. अम्बेडकर भी द्वितीय सदन के बहुत अधिक पक्ष में नहीं थे। संविधान लागू किये जाने के बाद भी अनेक बार इसकी आलोचना करते हुए इसे समाप्त कर देने तक की बात कही गई है। राज्य सभा के प्रति की गई आलोचनाओं का प्रमुख रूप से दो रूपों में अध्ययन किया जा सकता है।

3.1.6.1. रचना सम्बन्धी आलोचनाए –रचना के आधार पर राज्यभा की बहुत अधिक आलोचना की जाती है।

3.1.6.1.1. सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि संघात्मक व्यवस्था में दूसरे सदन का गठन संघात्मकता अर्थात राज्यों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर किया जाना चाहिए, लेकिन भारत में राज्यसभा के गठन में अमरीका की सीनेट या आस्ट्रेलिया संघ के द्वितीय सदन के समान संघात्मकता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया

हैं राज्य सभा का गठन दलगत आधार पर होता है और राज्य सभा के सदस्यों द्वारा गलगत आधार पर ही कार्य किया जाता है।

श्री गिरधारी लाल के शब्दों में, ''यह राज्य सभा नहीं वरन् राज्य विधान मण्डलों के राजनीतिक दलों की एक सभा है।''

3.1.6.1.2. द्वितीय– यह कहा जाता है कि राज्य सभा के अधिकांष सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप में होता है। इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन के कारण इस बात का अधिक डर रहता है कि किन्ही व्यक्तियों द्वारा धन या अन्य भ्रष्ट साधनों के बल (षक्ति) पर यह चुनाव जीत लिया जाएगा।

3.1.6.1.3. तृतीय, आलोचना इस आधार पर की जाती है कि राज्यसभा के सदस्यों को राज्य विधान सभाओं द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। राज्यों की विधान सभाओं को क्षेत्रीय दलों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। और आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के कारण ये क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं, जिसे राष्ट्रीय हित में नहीं कहा जा सकता।

चतुर्थ, राज्यसभा के 12 सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है और मनोनयन की यह प्रणाली नितान्त अप्रजातांत्रिक है। कार्यपालिका के द्वारा अपनी इस शक्ति का कई बाद दुरूपयोग किया गया।

पंचम्– व्यवहार में राज्य सभा का प्रयोग एक राजनीतिषरण –गृह के रूप में किया गया है। राज्य सभा में प्रायः ऐसे लोगो को स्थान दिया जाता है। जो प्रत्यक्ष चुनाव से दूर भागते है या उन्हें प्रत्यक्ष चुनाव में जनता द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता हैं इस प्रकार राजनीतिक दलों, विषेष रूप से सत्तारूढ़ पक्ष द्वारा अवकाष प्राप्त अयोग्य तथा विषेष गुटों के प्रतिनिधियों को इस सभा में स्थान देकर राज्यसभा को केवल अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का साधन बना लिया जाता है।

3.1.6.2. शक्ति सम्बन्धी आलोचनाएं– संविधान के द्वारा राज्यसभा को जो अधिकार एवं शक्तिया प्रदान की गई है, उसके आधार पर इसे एक निरर्थक या अनुपयोगी सदन कहा जाता है। सही रूप में राज्य सभा की स्थिति यह है कि साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में 6 महीने तथा वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में 14 दिन की देरी लगा सकती है। यह मन्त्रिमण्डल को नाममात्र के लिए प्रभावित कर सकती है। क्येांकि इसे मंन्त्रि परिषद् को पद से हटाने की शक्ति प्राप्त नहीं हैं राज्य सभा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेती है। राज्य सूची के विषयों को राष्ट्रीय महत्व को घोषित करती है। और साथ ही अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था के लिए प्रस्ताव प्राप्ति करती है। आलोचकों का कहना है कि यह कार्य संविधान द्वारा स्थापित अन्य किन्ही भी संस्थाओं या अधिकारियों को सौंपे जा सकते है। केवल इन कार्यों को करने के लिए राज्य सभा का कोई अस्तित्व नहीं है।

द्वितीय, राज्यसभा को वित्तीय और अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में जो देर लगाने की शक्ति प्राप्त है वह हानिकारक सिद्ध हुई है और विषेष परिस्थितियों में बहुत अधिक हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

तृतीय, आलोचको के अनुसार लोक सभा की कार्यविधि और गठन इस प्रकार का है कि इसके द्वारा कानून निर्माण में न तो अनावष्यक जल्दबाजी को अपनाया जा

सकता है। और न ही निरंकुषता को। अतः लोक सभा पर थोड़ा या अधिक अंकुष रखने के लिए राज्यसभा का कोई औचित्य नहीं है।

3.1.7. राज्य सभा के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार है।

3.1.7.1. संघात्मक व्यवस्था – संविधान का स्वरूप संघात्मक है। संघवाद वह यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियों का विभाजन दो प्रकार की सरकारों के मध्य हो जाता है। ये दो प्रकार की सरकारे– केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों के रूप में होती है।

संघ सरकार की परिभाषा करते हुए फाइनर ने कहा है कि यह एक शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय द्वोत्रों में निहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में।''

गार्नर के अनुसार, ''ऐसी शासन प्रणालियों के केन्द्रीय और स्थानीय संगठन एक प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्थित होते हैं और ये दोनों प्रकार अपने निष्चित अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में जो सामान्य संविधान द्वारा निर्धारित की गयी है, सर्वोपरि होते है।''

राज्य सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व इसी संघात्मक व्यवस्था को प्रदर्षित करता है। राज्य सभा में सदस्यों की संख्या निम्न प्रकार है।

राज्य	सदस्य संख्या	राज्य	सदस्य संख्या
आंध्र प्रदेष	18	केरल	9
असम	7	मध्य प्रदेष	11
बिहार	16	महाराष्ट्र	19
गुजरात	11	कर्नाटक	12
जम्मू–कष्मीर	4	उड़ीसा	10
पंजाब	7	राजस्थान	10
तमिलनाडु	18	उत्तर प्रदेष	31
पष्चिम बंगाल	16	हरियाण	5
हिमाचल प्रदेष	3	नागालैण्ड	1
मेघालय	1	मणिपुर	1
त्रिपुरा	1	सिक्किम	1
मिजोरम	1	अरूणाचल प्रदेष	1
गोवा	1	छत्तीसगढ़	5
उत्तराखण्ड	3	झारखण्ड	6
दिल्ली	3	पांडुचेरी	1
योग	**110+123 =233**		

3.1.7.2. संयुक्त अधिवेषन/संयुक्त बैठक (अनुच्छेद 108)

संयुक्त अधिवेषन की प्रक्रिया का अनुसरण तब किया जाता है जब किसी विधेयक पर देानो सदनों (राज्यसभा व लोकसभा) में आपसी सहमति नहीं बन पाती है।

कोई विधेयक अधिनियम तभी बनता है जब वह दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाए। धन विधेयक इसका आपवाद है। यदि दोनों सदन दूसरे सदन द्वारा प्रस्तावित संषोधनों पर सहमत नहीं होते या यदि वे विधेयक के उपबंघो पर असहमत है तो गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस गतिरोध को दूर करने के लिए संविधान ने संयुक्त बैठक का उपबन्ध किया है। यदि किसी विधेयक के एक सदन से पारित किए जाने और दूसरे को पारोषित किए जाने के पष्चात–

(क) विधेयक दूसरे सदन द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है।

(ख) संषोधनों के बारे में दोनों सदन अंतिम रूप में असहमत हो जाते हैं।

(ग) विधेयक दूसरे सदन में छह माह से लंबित हैं।

इन तीनों परिस्थितियों में राष्ट्रपति सदनों की संयुक्त बैठक के लिए आहूत करेगा। जैसा ऊपर बताया जा चुका है। संयुक्त बैठक (क) धन विधेयक और (ख) संविधान संषोधन विधयेक की दषा में नहीं हो सकती है।

टिप्पणी – यदि लोक सभा के विघटन के कारण कोई विधेयक व्यपगत हो गया है तो उसके लिए संयुत बैठक नहीं हो सकती। किन्तु यदि राष्ट्रपति ने सदन की संयुक्त बैठक आहूत करने के अपने आषय की सूचना दे दी है और उसके पष्चात् लोक सभा का विघटन हो जाता है तो भी संयुक्त बैठक हो सकेगी और विधेयक व्यपगत नहीं होगा। उसे पारित किया जा सकेगा।

अनुच्छेद 118 (4) यह अधिकारित करता है कि लोक सभा अध्यक्ष दोनों सदनेां की संयुक्त बैठक का सभापित होगा।

राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 118(3) के अधीन संसद सदन (संयुक्त बैठक और संसूचना) नियम बनाए है। इस नियमों के नियम 5 में यह उपबंध है कि अध्यक्ष की अनुपस्थिति में संयुक्त बैठक में उपाध्यक्ष पीठासीन होगा। यदि वह भी अनुपस्थित है तो राज्य सभा का उपसभापित अध्यक्षता करेगा। यदि वह भी अनुपस्थित है तो ऐसा व्यक्ति पीठासीन होगा जो बैठक में उपस्थित सस्यों द्वारा तय किया जाए।

संयुक्त बैठक के लिए गणपूर्ति सदनों की कुल सदस्य संख्या के 1/10 (एक बटा दस) से होगी।

यदि विधेयक संयुक्त बैठक में दोनों सदनों के उपस्थित और मतदन करने वाले सदस्यों, के बहुमत से पारित कर दिया जाता है तो वह दोनेां सदनों द्वारा पारित समझा जाएगा।

संयुक्त बैठक अभी तक तीन बार आहूत की गयी है–

(क) पहली संयुक्त बैठक 6 मई 1961 को बुलाई गई थी जो दो दिन चली थी (इसमें दहेज निरोधक विधेयक पारित किया गया था।

(ख) दूसरी संयुक्त बैठक 16 मई 1978 को हुई थी जिसमें बैकिंग सेवा आयोग से सम्बन्धित विधेयक पाति हुआ।

(ग) तीसरी संयुक्त बैठक 26 मार्च 2002 को हुई जिसमें 'पोटो' (आतंकवाद निवारण विधेयक) पारित हुआ।

टिप्पणी– संयुक्त विधयेक के सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति दो बातों की दृष्टि से निर्बल है–

प्रथम– संयुक्त अधिवेषन बुलाने की शक्ति राष्ट्रपति के पास है और राष्ट्रपति द्वारा यह कार्य मन्त्रि परिषद के परामर्ष के आधार पर किया जाता है। मन्त्रिपरिषद लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, अतः बहुत अधिक सम्भावना इस बात की है कि संयुक्त अधिवेषन बुलाने के सम्बन्ध मन्त्रिपरिषद लोकसभा के दृष्टिकोंण को ही अधिक ध्यान में रखेगी।

द्वितीय– संयुक्त बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर किया जाता है और लोकसभा की सदस्य संख्या, राज्यसभा की सदस्य संख्या से दुगनी से भी अधिक होने के कारण इस विधेयक की स्वीकृति या अस्वीकृति, लोकसभा की इच्छानुसार ही होगी।

3.1.8. सारांष – राज्य सभा के उपरोक्त अध्ययन से पता चलता है कि तमाम आलोचनाओं और कभी–कभी लोक सभा और राज्य सभा में पारस्परिक विरोध की घटनाओं के बावजूद राज्य सभा का अस्तित्व पर्याप्त उपयोगी और लाभदायक रहा है। द्वितीय सदन होने के बावजूद भी इसका अपना एक स्वयं का अस्तित्व है। कुछ विषयों में इसे लोक सभा के समान ही शक्ति प्राप्त है।

प्रथम, राज्यसभा को संविधान के संषोधन के विषय में लोक सभा के समान शक्ति प्राप्त है।

द्वितीय, राज्यसभा में से भी मन्त्रियों की नियुक्तिया की जाती है। उदा.–1966 में जब श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त हुई, उस समय वे राज्य सभा की ही सदस्य थी।

तृतीय, इस परम्परा से भी राज्य सभा के महत्व का आभास होता है। कि केन्द्रीय मन्त्री प्रायः राज्यसभा में उपस्थिति रहते हैं। और विचार–विमर्ष तथा वाद–विवाद में भाग लेते हैं। इस प्रकार राज्य सभा सरकारी नीतियों तथा कार्यों पर प्रभाव डालने में समर्थ है और व्यवहार में अनेक बार इसने शासन की नीतियों तथा कार्यो को प्रभावित किया है। राज्य सभा उन सभी कार्यों को करती है जो परम्परागत रूप से द्वितीय सदन द्वारा किये जाते है और भारत जैसे विषाल और संघात्मक व्यवस्था वाले देष के लिए संघात्मक व्यवस्था का द्विसंदनात्मक होना नितान्त स्वाभाविक और आवष्यक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण सफल रहा है और इसके अस्तित्व के औचित्य पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है।

आवष्यकता इस बात की है कि राज्यसभा के द्वारा अपने आपको लोक सभा का सहायक और सहयेागी समझा जाए प्रतिद्वन्दी नहीं।

पं. नेहरू ने 6 मई 1953 को राज्यसभा में विल्कुल ठीक कहा था कि ''दोनों सदनों के द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य किया जाना चाहिए क्योंकि इन दोनों में से कोई एक नहीं वरन् दोनों एक साथ मिलकर ही भारत की संसद का निर्माण करते है और भारतीय संसद के रूप में जाने जाते हैं।

3.1.9. शब्दावली

प्रथम– संसद, राष्ट्रपति तथा दो सदन– राज्य सभा तथा लोक सभा को मिलाकर संसद का निर्माण होता है।

द्वितीय– विधेयक, अंग्रेजी के बिल (Bill) का हिन्दी रूपान्तरण है। बिल या विधेयक एक प्रस्ताव हेाता है जिसे विधि का स्वरूप (कानून का रूप) देना होता है। इस तरह का प्रस्ताव संसद में कानून बनाने के लिए रखा जाता है।

टिप्पणी – विधेयक दो प्रकार के होते है, एक साधारण विधेयक दूसर धन विधेयक।

साधारण विधेयक– धन विधेयक को छोड़कर सभी विधेयक साधारण विधेयक होते हैं।

धन विधेयक– धन विधेयक उस विधेयक को कहते है जिसका सम्बन्ध संघ की आय, व्यय, निधियों, हिसाब–किताब और उनकी जॉच इत्यादि से हो।

3.1.10. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय संविधान तथा नागरिक जीवन : डा. पुखरा जैन
2. भारतीय प्रषासन : डा. बी. एल. फाडिया
3. भारत का संविधान (एक परिचय) : बृजकिषोर शर्मा
4. भारत का संविधान : डा. जयनारायण पाण्डे

3.1.11. बोध प्रष्न

1. संसद का गठन किस प्रकार से होता है,?
2. राज्य सभा का गठन किस प्रकार से किया जाता है ?
3. राज्य सभा के कार्य एवं शक्तियों का वर्णन कीजिये?
4. संसद के संयुक्त अधिवेषन से आप क्या समझतें हैं

इकाई–2 लोक सभा संगठन, शक्तियॉ, एवं कार्य

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देष्य
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. लोक सभा
3.1.3. लोक सभा का इतिहास
3.1.4. राज्यों के अनुसार सीटो का आवंटन
3.1.5. लोक सभा का कार्यकाल, निर्वाचन एवं सदस्यों की योग्यताएँ
3.1.6. लोक सभा का अधिवेषन
3.1.7. लोक सभा के पदाधिकारी
3.1.8. लोक सभा की शक्तियॉ एवं कार्य
3.1.9. लोक सभा की विषेष शक्तियॉ
3.1.10. लोक सभा के सत्र
3.1.11. लोक सभा और राज्य सभा की तुलना और दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध
3.1.12. व्यवहार में लोक सभा व राज्य सभा में सम्बन्ध
3.1.13. सारांष
3.1.14. शब्दावली
3.1.15. संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.1.16. बोध प्रष्न

3.1.0. उद्देष्य

- लोक सभा के विषय में बता सकेंगे,
- लोक सभा के इतिहास को जान सकेगे,
- राज्यों के अनुसार लोक सभा में सीटों की संख्या के बारे में जान सकेगे तथा बता सकेगे।
- लोक सभा के कार्यकाल, निर्वाचन एवं सदस्यों की योग्यताओं के विषय में बता सकेगे।
- लोक सभा के अधिवेषन, सत्र और पदाधिकारी के विषय में बता सकेगे,
- लोक सभा की शक्तियॉ, विषेष शक्तियॉ एवं कार्यों के विषय में बता सकेगे,
- लोक सभा और राज्य सभा की तुलना, पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यवहार में दोनों के सम्बन्ध के विषय में बता सकेगे।

3.2.1. प्रस्तावना :

लोक तांत्रिक सरकार को उत्तरदायी या संसदीय सरकार कहते हें। संसदीय सरकार को मंत्रिमण्डलीय सरकार के नाम से भी जाना जाता है। कार्यपालिका और व्वस्थापिका को मिलाकर ही मन्त्रिमण्डलीय/संसदीय शासन व्यवस्था का निर्माण होता है। संसदीय शासन व्यवस्था में संसद की तीन अंग होते हैं। जिनसे संसद का निर्माण होता है– राष्ट्रपति, लोकसभा और राज्यसभा। राज्यसभा का वर्णन प्रथम अध्याय में कर चुके हैं। जो संसद का द्वितीय सदन है। इस अध्याय में हम लोक सभा (प्रथ्म सदन/लोकप्रिय सदन) के विषय में अध्ययन करेगे।

3.2.2. लोक सभा (House of the People) अनुच्छेद 80

लोक सभा संसद का प्रथम या निम्न सदन है। इसे लोक प्रिय सदन भी कहते है, क्योकि इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। लोक सभा राज्य सभा से अधिक शक्तिषाली है और अनेक प्रसंगो में संसद का आषय लोक सभा से ही लिया गया हैः

3.2.2.1. सदस्य संख्या– मूल संविधान में लोक सभा की सदस्य संख्या 500 निष्चित की गयी थी, लेकिन समय–समय पर इसमें वृद्धि की गयी। 31वें संवैधानिक संषोधन (1974) के अनुसार लोक सभा की अधिकतम सदस्य संख्या 547 निष्चित की गयी थी। परनतु अब 'गोवा दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम 1987 द्वारा निष्चित किया गया है कि लोक सभा की अधिकतम संख्या 552 हो सकती है। इसमें से अधिकतम 530 सदस्य राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों से व अधिकम 20 सदस्य संघीय क्षेत्रों से निर्वाचित किये जा संकेगे एवं राष्ट्रपति आंगल भारतीय वर्ग के 2 सदस्यों को मनोनयन कर सकेंगे।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रति दस वर्ष पष्चात होने वाली गणना के आधार पर परिसीमन आयोग लोक सभा में राज्यों व संघीय क्षेत्र के प्रतिनिधियों की संख्या निष्चित करेगा। 1971 की जनगणना के आधार पर परिसीमन आयेाग के द्वारा अगली लोक सभा की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में निर्णय लिए गए हैं। 42वें संवैधानिक संषोधन के अनुसार अनुच्छेद 82 में संषोधन करते हुए व्यवस्था की गई है कि लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के सदस्यों की संख्या 2001 तक वहीं रहेगी जो 1971 की जनगणना के आधार निर्धारित की गई थी।

71वें संवैधानिक संषोधन (1992) और 84 वें संवैधानिक संषोधन (2002) द्वारा इस व्यवस्था में पुनः परिवर्तन किया गया है। 84 वें संवैधानिक संषोधन के आधार पर लोक सभा के सदस्यों की संख्या और लोक सभा में राज्यवार प्रतिनिधित्व 2026 तक यथावत् रखने का निर्णय लिया गया है।

3.2.3. लोक सभा का इतिहास : प्रथम लोक सभा 1952 पहले आम चुनाव होने के बाद देष को अपनी पहली लोक सभा मिली। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 245 सीटों के साथ जीत हासिल करके सत्ता में पहुॅची। इसके साथ ही जवाहर लाल नेहरू भारत के पहले प्रधानमंत्री बने।

3.2.4. राज्यों के अनुसार सीटों की संख्या : भारत के प्रत्येक राज्य को उसकी जनसंख्या के आधार पर लोक सभा सदस्य मिलते है। वर्तमान में यह 1971 की जनसंख्या पर आाधारित है। अगली बार लोकसभा के सदस्यों की संख्या वर्ष 2026 में निर्धारित किया जायेगा।

वर्तमान में लोकसभा की सीटे निम्नानुसार 29 राज्यों और 7 केन्द्र शासित प्रदेषें के बीच विभाजित हैंः–

क्र. सं.	उपविभाजन	प्रकार	निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या
1.	अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह	केन्द्र शासित प्रदेष	1
2.	आन्ध्र प्रदेष	राज्य	25
3.	अरूणाचल प्रदेष	राज्य	2
4.	असम	राज्य	14
5.	बिहार	राज्य	40
6.	चण्डीगढ़	केन्द्र शासित प्रदेष	1
7.	छत्तीसगढ़	राज्य	11
8.	दादरा और नगर हवेली	केन्द्र शासित प्रदेष	1
9.	दमन और दीव	केन्द्र शासित प्रदेष	1
10.	दिल्ली	केन्द्र शासित प्रदेष	7
11.	गोवा	राज्य	2
12.	गुजरात	राज्य	26
13.	हरियाणा	राज्य	10
14.	हिमाचल प्रदेष	राज्य	4
15.	जम्मू और कष्मीर	राज्य	6
16.	झारखण्ड	राज्य	14
17.	कर्नाटक	राज्य	28
18.	केरल	राज्य	20
19.	लक्ष्यद्वीप	केन्द्र शाति प्रदेष	1
20.	मध्य प्रदेष	राज्य	29
21.	महाराष्ट्र	राज्य	48
22.	मणिपुर	राज्य	2
23.	मिजोरम	राज्य	1
24.	नागालैण्ड	राज्य	1
25.	उड़ीसा	राज्य	21
26.	पांडुचेरी	केन्द्र शासित प्रदेष	1
27.	पंजाब	राज्य	13
28.	राजस्थान	राज्य	25
29.	सिक्किम	राज्य	1
30.	तमिलनाडु	राज्य	39

31.	त्रिपुरा	राज्य	2
32.	उत्तराखण्ड	राज्य	5
33	उत्तर प्रदेष	राज्य	80
34.	पष्चिम बंगाल	राज्य	42
35.	तेलंगाना	राज्य	17
40.	आंग्ल भारतीय 2 अगर राष्ट्रपति मनोनीत करें (संविधान के अनुच्छेद 331 के तहत)		

3.2.5. लोक सभा का कार्यकाल, निर्वाचन एवं सदस्यों की योग्यतांए

3.2.5.1. प्रोटेम स्पीकर (कार्यवाहक/अंतिरक अध्यक्ष) – लोक सभा, भारतीय संसद का निचला सदन है। जब कोई नवीन लोकसभा चुनी जाती है तब राष्ट्रपति प्रोटेम स्पीकर की नियुक्ति करता है। प्रोटेम ;च्तव.जमउद्ध लेटिन शब्द प्रो. टैम्पोर ;च्तव ज्मउचवतमद्ध का संक्षित रूप है। इसका शब्दिक अर्थ है– 'कुछ समय के लिए'। इसकी नियुक्ति आमतौर पर तब तक के लिए होती है। जब तक लोक सभा अपना स्थायी लोकसभा अध्यक्ष नहीं चुन लेती। यह नवनिर्वाचित सदस्यों को शपथ–ग्रहण कराता है। सदन में जब तक सदस्य शपथ नही लेते, तब तक उनको सदन को हिस्सा नही माना जाता, इसलिए स्पीकर के पास निर्णायक वोट देने का अधिकार होता है। परंपरा के मुताबिक सदन में सबसे वरिष्ठ सदस्य को राष्ट्रपति, प्रोटेम स्पीकर के लिए चुनते है। राज्य विधानसभाओं में प्रोटेम स्पीकर की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है।

3.2.5.2.कार्यकाल

यदि समय के पहले भंग ना किया जाये तो लोक सभा का कार्यकाल अपनी पहली बैठक से लेकर अगले पॉच वर्ष तक होता है उसके बाद यह स्वतः भंग हो जाती हैं लोक सभा के कार्यकाल के दौरान यदि आपातकाल की घोषणा की जाती है तो संसद को इसका कार्यकाल कानून के द्वारा एक समय में अधिकतम एक वर्ष तक बढ़ाने का अधिकार है, जबकि आपातकाल की घोषणा समाप्त हाने की स्थिति में इसे किसी भी परिस्थिति में छः महीने से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता।

3.2.5.3.लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन :

लोक सभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। भारत में 61 वें संवैधानिक संषोधन के अनुसार अब 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। अब लोक सभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल–सदस्सीय रखे गये हैं प्रतिनिधि का अनुपात कुछ अपवादों को छोड़कर यथा सम्भव समस्त देष में समान रखने का प्रयत्न किया जायेगा। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखने थे, किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ा दी गई। संविधाान के 79 वें संषोधन द्वारा अब आरक्षण 25 जनवरी 2010 तक के लिए कर दिया गया है।

3.2.6. मतदाताओं के लिए योग्यताएँ :

लोक सभा के चुनाव में उन सभी व्यक्तियों को मतदान का अधिकार होगा जो:

1. भारत के नागरिक है
2. जिनकी आयु 18 वर्ष या अधिक है
3. जिनका नाम अपने निवास क्षेत्रकी मतदाता सूची में है,
4. जो पागल या दिवालिया नही है
5. जिन्हे संसद के कानून द्वारा किसी अपराध भ्रष्टाचार या गैर–कानूनी व्यवहार के कारण मतदान से वंचित नहीं कर दिया गया है।

3.2.7. सदस्यों के लिए योग्यताएं

लोक सभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताए होनी आवष्यक है :

1. वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो
2. उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो
3. भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किए हो,
4. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो तथा पागल न हो।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त अन्य योग्यताएं निर्धारित करने का अधिकार संविधान के द्वारा संसद को दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1951 में जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (Peoples Representation Act.) पास कर संसद के सदस्यों के लिए निम्न योग्यताएं निष्चित की है,

(1) अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित सुरक्षित स्थानों के उम्मीदवार के लिए आवष्यक है कि वे अनुसूचित जाति के सदस्य हो। इसी प्रकार जनजाति से सम्बन्धित सुरक्षित स्थान के उम्मीदवारों के लिए आवष्यक है कि वे जनजाति के सदस्य हों। ये व्यक्ति समस्त भारतीय क्षेत्र में किसी भी स्थान से अनूसूचित जाति या जनजाति के सदस्य हो सकते हैं।

(2) असम की जनजातियेां के लिए सुरक्षित स्थान के उम्मीदवार बनने हेतु उसी जाति का होना और उस संसदीय निर्वाचन क्षेत्र या उस जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवष्यक है।

(3) अन्य किसी स्थान से उम्मीदवार होने के लिए भारत में किसी भी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवष्यक है। अर्थात किसी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।

(4) निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाए गए व्यक्ति को निर्वाचन आयोग द्वारा एक निष्चित समय अथवा जीवन भर के लिए चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित किया जा सकता है।

(5) उसने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा न पाई हो और उसे जेल से छूटे हुए पांच वर्ष से अधिक हो गए हों।

(6) उसे सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके में हिस्सेदार न होना चाहिए और न सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने में उसका हित होना चाहिए।

(7) उसे बेईमानी या राजद्रोह के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार से अपराध के 5 वर्ष बाद ही वह ससंद की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

3.2.7.1.लोक सभा का अधिवेषन : लोक सभा और राज्य सभा के अधिवेषन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाये और स्थगित किये जाते है और इस सम्बन्ध में नियम केवल यह है कि लोकसभा की दो बैठकों में 6 माह से अधिक को अन्तर नहीं होना चाहिए।

3.2.7.2.लोक सभा के पदाधिकारी : अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष – संविधान के अनुच्छेद 93 के अनुसार लोकसभा स्वयं ही अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करेगी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को उनके पद से तभी हटाया जा सकता है यदि लोक सभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से इस आषय का प्रस्ताव पास हो जाय, परन्तु इस प्रकार का कोई प्रस्ताव लोकसभा में तभी पेष हो सकेगा जबकि इस प्रकार के प्रस्ताव को पेष करने के लिए कम से कम 14 दिन की पूर्व सूचना दी गयी हो। संविधान के अनुसार लोक सभा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को संसद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे। इन दोनों पदाधिकारियों को निःषुल्क निवास–स्थान तथा केन्द्रीय मन्त्रियों को मिलने वाली अन्य सुविधांए भी प्राप्त होती है।

अध्यक्ष द्वारा पद त्याग, पदच्युति या अन्य किसी कारण से अध्यक्ष की अनुपस्थित की स्थिति में उपाध्यक्ष लोकसभा की अध्यक्षता करता है। अध्यक्ष, सभापतियों का एक मण्डल (Panel) भी नियुक्त करता है, जिसके सदस्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में लोक सभा की अध्यक्षता करते हैं। सामान्यतया इस 'पैनल' या मण्डल मे 6 सदस्य रखे जाते हैं।

3.2.7.3.लोक सभा की शक्तियॉ और कार्य Power and function of Lok Sabh: भारतीय संसद के दो सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्रों को जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निष्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रषासन पर नियन्त्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोक सभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च स्थिति प्रदान की गई है। संसद लोकसभा, राज्य सभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती हैं, लेकिन लोक सभा संसद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है। लोक सभा की शक्तियॉ तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है।

3-2-7-4-विधायी शक्ति (Legislative Power) संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघ सूची, समवर्ती सूची, अवषेष विषयों और कुछ विषेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य सभा को समान शक्ति प्रदान की गई है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी

एक सदन में प्रस्तावित किए जा सकते है और दोनों सदनों में पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जाएगे, लेकिन इसके साथ ही दोनों सदनों में मतभेद होने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाए जाने की व्यवस्था है। और लोक सभा में सदस्य संख्या राज्य सभा की संख्या की दुगनी से भी अधिक होने के कारण सामान्यतया इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोक सभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण की शक्ति लोक सभा के पास है और राज्य सभा साधारण अवित्तीय विधेयक को 6 महीने तक रोके रखने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक महत्वपूर्ण विधेयक लोक सभा में ही प्रस्तावित किये जाते रहे हैं।

3.2.7.5. वित्तीय शक्ति (Finaicial Power) – अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोक सभा में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं, राज्य सभा में नहीं। लोक सभा में पारित हाने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है और राज्यसभा के लिए यह आवष्यक है कि उसे वित्त विधेयक को प्राप्ति की तिथि के 14 दिन के अन्दर–अन्दर लोक सभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संषोधन के लिए सुझाव दे सकती है। लेकिन इन्हें स्वीकार करना या न करना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक को प्राप्त हाने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिषें सहित या सिफारिषों के बिना लोकसभा का न लौटाएं तो निष्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया जाएगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांगे भी लोक सभा के समक्ष ही रखी जाती है। इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोक सभा को ही प्राप्त है।

3.2.7.6.कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति (Power of Control over Executives) भारतीय संविधान द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है। अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब कि तक उसे लोकसभा का विष्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ सकते है तथा उनकी आलोचना कर सकते है। संसद सरकारी विधेयक अथवा गजट को स्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संषोधन करके जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्षित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव (Adjournmnet Motion) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाष में ला सकती है। अन्तिम रूप से लोक सभा के द्वारा अविष्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात मन्त्रिपरिषद को उसके पद से हटाया जा सकता है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति के अन्तर्गत ही लोकसभा संघ लोक सेवा आयोग, भारत के नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग भाषा आयोग, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एवं राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग, आदि की रिपोर्ट पर विचार करती है।

3.2.7.7. संविधान संषोधन सम्बन्धी शक्ति (Power of amending the Constitution) अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत प्रस्तावित बिल जो कि संविधान के एक या अधिक प्रस्ताव को संषोधित करना चाहता है संषोधन बिल कहलाता है यह किसी भी संसद सदन में बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति के लाया जा सकता है इस विधेयक को सदन द्वारा कुल उपस्थिति सदस्यों की 2/3 संख्या तथा सदन के कुल बहुमत द्वारा ही पास किया जायेगा दूसरा सदन भी इसे इसी प्रकार पारित करेगा किन्तु इस विधेयक को सदनों को पृथक सम्मेलन में पारित किया जायेगा गतिरोध आने की दषा में जैसा की सामान्य विधेयक की स्थिति में होता है। सदनों की संयुक्त बैठक नहीं बुलायी जायेगी। संविधान के अधिकांष प्रावधानों में अकेली संघीय संसद के द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता हैः केवल कुछ ही प्रावधानें में संधोधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति आवष्यक होती है।

टिप्पणी– भारतीय संसद की संविधन संषोधन सम्बन्धी शक्ति पिछले वर्षों बहुत अधिक वाद–विवाद का विषय रहीं है। इस प्रकार के वाद–विवाद का एक प्रमुख बिन्दु यह रहा है। कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित करने वाला संवैधानिक संषोधन कर सकती है या नही। 1951 और 1965 में तो सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में ससद की इस शक्ति को स्वीकार किया था। लेकिन 27 फरवरी 1967 को गोलकनाथ विवाद में बहुमत से निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संसद कोई ऐसा संवैधोनिक संषोधन नहीं कर सकती जो मौलिक अधिकारों को छीनता या कम करता हो। 1971 में 24 वें संवैधानिक संषोधन के आधार पर गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को रद्द कर दिया गया। 24वें संवैधानिक संषोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। लेकिन 22 अप्रैल 1973 के ऐतिहासक निर्णय में इस वैद्य घोषित किया गया, लेकिन इसके साथ ही इस निर्णय में का गया कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल स्वरूप या उसके आधारभूत ढांचे को ही बदल दे या नष्ट कर दें।

3.2.7.8. निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य (Function as an Electral College) लोक सभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोक सभाके सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते है। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोक सभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती हे। लोक सभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष्य को निर्वाचित किया जाता है तथा वह उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

3.2.7.9. जनता की षिकायतों का निवारण (Redressal of Public Grievances) लोक सभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते है अतः उनके द्वारा जनता की षिकायतें, जनता के विचार और भावनाएं सरकार तक पहुॅचाई जाती हैं लोक सभा के 10 सदस्य गण इस इस बात की चेष्टा करते हैं कि सरकार अपनी नीतियें का निर्माण एवं कार्यों का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करे। यदि सैद्वान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक

अध्ययन किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि लोक सभा सबसे अधिक प्रमुख रूप से यही कार्य सम्पादित करती है।

3.2.7.10. विविधि कार्य (Miscellaneous Aunctions) लोक सभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार हैः

i) लोक सभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती है।

ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए राज्य सभा प्रस्ताव पास करे दे तो इस प्रस्ताव का लोक सभा द्वारा अनुमोदन आवष्यक होता है।

iii) लोक सभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीषों के विरूद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर सकती है।

iv) राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर–अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवष्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने बाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।

v) यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा **(Amnesty)** देना चाहें तो उसकी स्वीकृति संसद से लेनी आवष्यक है।

3.2.8. 209 लोक सेवा की विषेष शक्तियॉ

- मंत्री परिषद केवल लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। अविष्वास प्रस्ताव सरकार के विरूद्ध केवल यही जाया जा सकता है।
- धन बिल पारित करने में यह निर्णायक सदन है।
- राष्ट्रीय आपातकाल को जारी रखने वाला प्रस्ताव केवल लोकसभा में लाया और पास किया जायेगा।

3.2.9. लोक सभा के सत्रः

सविधान के अनुच्छेद 8.5 के अनुसार संसद सदैव इस तरह से आयोजित की जाती रहेगी कि संसद के दो सत्रों के मध्य 6 मास के अधिक अंतर न हो। पंरम्परानुसार संसद तीन नियमित सत्रों तथा विषेष सत्रों में आयोजित की जाती है। सत्रों का आयोजन राष्ट्रपति की विज्ञप्ति से होता है।

3.2.9.1.बजट सत्र– वर्ष का पहला सत्र होता है सामान्यत फरवरी मई के मध्य चलता है यह सबसे लम्बा तथा महत्वपूर्ण सत्र माना जाता है। इसी सत्र में बजट प्रस्तावित तथा पारित होता हैं सत्र के प्रारम्भ में राष्ट्रपति का अभिभाषण होता है।

3.2.9.2.मानसून सत्र– जुलाई अगस्त के मध्य हेाता है।

3.2.9.3.शरद सत्र– नवम्बर– दिसम्बर के मध्य हेाता है सबसे कम समयावधि का सत्र होता है।

3.2.9.4.विषेष सत्र– इसके दो भेद है।

(1) संसद के विषेष सत्र

(2) लोक सभा के विषेष सत्र

3.2.9.5.संसद के विषेष सत्र– मन्त्रि परिषद की सलाह पर राष्ट्रपति इनका आयोजन करता है। ये किसी नियमित सत्र के मध्य अथवा उससे पृथक आयोजित किये जाते है। एक विषेष सत्र में कोई विषेष कार्य चर्चित तथा पारित किया जाता है। यदि सदन चाहे भी तो अन्य कार्य नहीं कर सकता है।

3.2.9.6.लोक सभा का विषेष सत्र– अनुच्छेद 352 में इसका वर्णन है। किन्तु इसे 44 वें संषोधन 1978 में स्थापित किया गया है। यदि लोक सभा कम से कम 1/10 सदस्य एक प्रस्ताव लाते है जिसमें राष्ट्रीय आपातकाल को जारी न रखने की बात कही गयी है तो नोटिस देने के 14 दिन के भीतर सत्र बुलाया जायेगा।

3.2.10. सत्रावासन – मंत्रिपरिषद की सलाह पे सदनों का सत्रावासन राष्ट्रपति करता है इसमें संसद का एक सत्र समाप्त हो जाता है तथा संसद दुबारा तभी सत्र कर सकती है जब राष्ट्रपति सत्रांरभ का सम्मन जारी कर दें। सत्रावसान की दषा में संसद के समक्ष लम्बित कार्य समाप्त नहीं हो जाते है।

3.2.11. स्थगन – किसी सदन के सभापित द्वारा सत्र के मध्य एक लघुवधि का अन्तराल लाया जाता है। इससे सत्र समापत नहीं जो जाता ना उसके समक्ष लम्बित कार्य समाप्त हो जाते हैं। यह दो प्रकार का होता है।

अ) अनिष्चित कालीन,

ब) जब अगली मींटिग का समय दे दिया जाता है।

3.2.12. लोकसभा का विघटन : राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रि परिषद की सलाह पर किया जाता है। इससे लोक सभा का जीवन समाप्त हो जाता है। इसके बाद आम चुनाव ही होते है। विघटन के बाद सभी लंबित कार्य जो लोक सभा के समक्ष होते है समाप्त हो जाते है। किन्तु जो बिल राज्यसभा में लाये गये हो वह लंबिल हो जाते है समाप्त नहीं होता या जो बिल राष्ट्रपति के सामने विचाराधीन हो वे भी समाप्त नहीं होते हैं।

3.2.12.1. लोक सभा और राज्य सभा की तुलना और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध : लोक सभा और राज्यसभा का तुलनात्म्क अध्ययन या दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है।

3.2.12.2. नामकरण के सम्बन्ध में– भारतीय संसद के दो सदन हैः लोक सभा तथा राज्यसभा। लोक सभा संसद का प्रथम अथवा निम्न सदन है। और राज्सभा द्वितीय तथा उच्च सदन है। लोकसभा को 'लोक प्रिय सदन' और राज्यसभा को 'वरिष्ठ सदन' भी कहा जाता है।

3.2.13.3. प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में– लोक सभा भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है, राज्सभा भारतीय संघ की इकाइयों अर्थात राज्यों और संघीय क्षेत्रों का प्रतिनिधत्व करती है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राज्यसभा में भारतीय संघ के सभी राज्येां को समान प्रतिनिधत्व प्रदान नहीं किया गया है।

3.2.13.4. सदस्य संख्या के सम्बन्ध में– गोवा, दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 के अनुसार लोक सभा की अधिकतम संख्या 552 हो सकती है। वर्तमान समय में यह संख्या 545 है। राज्स सभा में अधिकतम 250 हो सकते है जिनमें 12 मनोनीति और 238 परोक्ष रूप से निर्वाचित होगे। वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या 245 (233+12) है। इस प्रकार लोक सभा की सदस्य संख्या राज्य सभा की सदस्य संख्या की दुगनी से भी अधिक है। तथा संयुक्त बैठक में यह सदस्य संख्या ही लोक सभा की शक्ति के आधार पर।

3.2.13.5. निर्वाचन के सम्बन्ध में : लोक सभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर और प्रत्यक्ष निर्वाचन के तरीके से होता है। राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है।

3.2.13.6. कार्यकाल के सम्बन्ध में : लोक सभा का कार्यकाल 5 वर्ष है लेकिन राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक–तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद अवकाष ग्रहण कर लेते है और इतने ही सदस्य निर्वाचित कर लिये जाते हैं।

3.2.13.7. साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में: सैद्वान्तिक दृष्टि से साधारण या अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियॉ बराबर है। साधारण विधेयक दोनें सदनों में से किसी में भी पेष किये जा सकते है। यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के बारे में मतभेद उत्पन्न हो जाये तो अनुच्छेद 108 के अनुसार राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर उस विधेयक के सम्बन्ध में निर्णय लिया जायेगा। लोक सभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगनी से भी अधिक होने के कारण संयुक्त बैठक में लोक सभा की इच्छानुसार कार्य होने की सम्भावना अधिक रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्यसभा को साधारण विधेयकों के बारे में लोक सभा के बराबर शक्ति प्राप्त होते हुए भी व्यवहार में उसकी स्थिति लोक सभा से बहुत निर्बल होती है।

3.2.13.8. संवैधानिक संषोधन के सम्बन्ध में: इस सम्बन्ध में भी दोनें सदनों को समान शक्तियॉ प्राप्त है। संविधान संषोधन से सम्बन्धित विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। और उसे संसद के दोनें सदनों द्वारा अलग–अलग अपने विषेष बहुमत से पारित किया जाना आवष्यक है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक केवल एक बार (1975 में 40 वां संषोधन विधेयक) संविधान संषोधन विधेयक राज्सभा में प्रस्तावित किया गया है।

3.2.13.9. वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में: वित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में संविधान द्वारा लोक सभा को राज्य सभा से अधिक शक्ति दी गयी है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक लोक सभा में ही प्रस्तावित किये जायेगे और लोक सभा से पारित होने पर ये विधेयक राज्यसभा में आयेगें, जिसके द्वारा अधिक से अधिक 14 दिन तक ऐसे विधेयकों पर विचार किया जा

सकता है राज्य सभा के सुझावों को मानना लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है।

3.2.13.10. कार्यपालिका पर नियंत्रण के सम्बन्ध में : संसदात्मक शासन में मन्त्रिमण्डल संसद के लोक प्रिय सदन के ही प्रति उत्तरदायी होता है। अतः भारत में भी मंत्रिमण्डल लोक सभा के ही प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नही। राज्यसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछते है और शासन की आलोचना भी कर सकते है। परन्तु अविष्वास प्रस्ताव के आधार पर मंन्त्रिमण्डल को पद से हटाने का अधिकार लोक सभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यपालिका पर नियंत्रण की दृष्टि से लोक सभा राज्य सभा की तुलना में निष्चित रू॰ से अधिक शक्तिषाली है।

3.2.13.11. अन्य कार्यों आधिकारों के सम्बन्ध में– निम्न मामलों में दोनों सदनों की शक्तियॉ समान है :

(1) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में देानों ही सदनें के सदस्य समान रूप से भाग लेते है।

(2) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार दोनों ही सदनों को है। एक सदन अभियोग लगाता है दूसरा उसकी जॉच करता है।

(3) सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयें के न्यायाधीषों नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को पद से हटाने के लिए दोनों सदनें की स्वीकृति आवष्यक है।

(4) राष्ट्रपति द्वारा की गयी संकटकालीन उद्घोषणा की स्वीकृति संसद के दोनें सदनों से होना आवष्यक है।

3.2.13.12. राज्य सभा की अन्य शक्तियॉ – राज्य सभा को राज्यों के एक मात्र प्रतिनिधि होने के नाते दो अन्य शक्तियॉ भी प्राप्त है–

प्रथम, अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्येां के दो–तिहाई बहुमत से घोषित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के अमुक विषय पर कानून बनाना चाहिए।

द्वितीय, अनुच्छेद 312 के अनुसार उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से राज्य सभा नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास कर सकती है।

उपरोक्त अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट है कि राज्यसभा को लोक सभा की तुलना मे कम शक्तियॉ प्राप्त है और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक है। संसदीय व्यवस्था में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त हो सकती है, परोक्ष रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन को नहीं। संविधान निर्माताओं के द्वारा राज्य सभा की कल्पना प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन के रूप में की गयी थी, प्रतिद्वन्दी सदन के रूप में नहीं और राज्य सभा के द्वारा इसी रूप में आचरण किया गया है।

3.2.14 व्यवहार में लोक सभा तथा राज्य सभा में सम्बन्ध :

राज्य सभा के विरूद्ध एक अतिरिक्त तर्क यह है कि व्यवहार के अन्तर्गत अनेक बार लोकसभा और राज्य सभा में आपसी विरोध की स्थिति उत्पन्न होती रही

है। मोरिस जोन्स लिखिते है कि ''संस्थाओं का यह स्वभाव होता है कि वे निष्ठाओं को जन्म देती हैं और जब दो संस्थाओं की स्थिति प्रायः समान होती है तो उनमें मतभेदों का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है।''

सर्व प्रथम इस प्रकार की स्थिति 1953 में उत्पन्न हुई, जब राज्य सभा ने अपने सदस्य और विधि मंत्री श्री विष्वास को निर्देष दिया कि वे लोक सभा में उपस्थित न हों। द्वितीय घटना भी 1953 में ही घटी, जबकि राज्यसभा ने एक प्रस्ताव पास कर मांग की कि या तो राज्य सभा की अलग लोक–लेखा समिति होनी चाहिए या वर्तमान लोक लेखा समिति में राज्य सभा के भी 7 सदस्यों को प्रतिनिधित्व देकर इसे लोक सभा की लोक लेखा समिति के स्थान पर संसद की लोक लेखा समिति का रूप दिया जाना चाहिए। लोक सभा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए इसे असंवैधानिक बताया। अन्त में पं. नेहरू ने हस्तक्षेप कर इस व्यवस्था को अपनाया कि लोक लेखा समिति तो लोक सभा की ही समिति रहेगी, लेकिन इस समिति को सहयोग देने के लिए राज्य सभा अपने 7 सदस्यों को नामांकित करेगी। 1954 में जब लोक सभा के सदस्य श्री एन. सी. चटर्जी ने राज्य सभा को उत्तरदायी आचरण का दोषी बताया और 1963 में जब श्री एच. वी. कामथ ने राज्य सभा की तुलना ब्रिटिष लार्ड से की तब भी ऐसी ही स्थितियॉ उत्पन्न हो गई।

राज्य सभा अपनी स्थिति के प्रति कुछ आवष्यकता से अधिक ही सजग रही है और कभी–कभी इसने लोक सभा के कार्यों में अनुचित रूप से बाधा डाली है। इस प्रकार की एक स्थिति 1970 में देखी गई है कि जबकि राज्य सभा ने लोक सभा द्वारा पारित प्रिवीपर्स समाप्ति का संविधान संषोधन विधेयक अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में अनेक सदस्यों ने राज्यसभा को 'आर्थिक और सामाजिक प्रगति में बाधक' बतलाते हुए इस समाप्त करने की मांग की। मार्च 1973 में कांग्रेस के वरिष्ठ सदस्य विभूति मिश्रा ने एक गैर–सरकारी प्रस्ताव रखा जिसमें मांग की गई कि संवैाानिक संषोधन के आधार पर राज्यसभा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

सन् 1977–79 के वर्षों में लोक सभा और राज्य सभा की दलीय संरचना में भेद रहा है और इस स्थिति ने इन दोनों सदनों के बीच विरोध की घटनाओं को जन्म दिया। सर्वप्रथम राज्यसभा ने वैकिग सेवा आयोग विधेयक के सम्बन्ध में लोक सभा के विचार का विरोध किया और 1977–78 में वार्षिक बजट में भी संषोधन किए, लेकिन इन दोनों बातों के सम्बन्ध में राज्सभा का विचार स्वीकार नहीं हुआ। इसके बाद 1978 में लोक सभा ने 45 वां संषोधन विधेयक पारित कर राज्य सभा में भेजा, जब राज्स सभा ने इन विधेयक को 5 संषोधनों सहित पारित किया और लोक सभा को राज्यसभा द्वारा किए गए ये संधोधन स्वीकार करने पड़े। इसी प्रकार विषेष अदालत विधेयक में श्री राज्यसभा के द्वारा जो संधोधन किए गए, लोक सभा ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

फरवरी 1980 में भारत के संसदीय इतिहास में पहली बार राज्यसभा ने राष्ट्रपति के अभिभाषण पर 'धन्यवाद' प्रस्ताव' में ऐसे वाक्य जुडवाए, जो नई सरकार की आलोचना करते है। लोक सभा और राज्यभा के सदस्यों का कार्य काल तथा दोनों सदनों के सदस्यों के चुनाव की पद्धतियों का जो भेद है उसके भविष्य में

भी इस सदनों की दलीय संरचना में भेद हो सकता है। और इसके कारण दोनों सदनों में आपसी विरोध की स्थितियॉ पैदा हो सकती हैं।

2.2.15. सारांष

लोक सभा की शक्तियों के उपर्युक्त अध्ययन में यह स्पष्ट होता है कि संसद देष का सर्वोच्च अंग तो लोक सभा संसद का सर्वोच्च अंग है। जनता का प्रतिनिधि सदन के कारण लोकसभा संसद का महत्वपूर्ण, शक्तिषाली एवं प्रभावषाली अंग है। व्यवहार की दृष्टि से लोक सभा को ही ससंद कह दिया जाए तो अनुचित न होगा। डा. एम. पी. शर्मा ने ठीक ही कहा है, यदि संसद राज्य का सर्वोच्च अंग है तो लोक सभा संसद का सर्वोच्च अंग है। व्यवहारतः लोक सभा ही संसद है।''

2.2.16. शब्दावली :

सत्रावसान : सत्रावसान उस सत्र को कहते है जिसमें संसद का एक सत्र समाप्त हो जाता है। सत्रावसान राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। संसद का सत्रावसान दोबारा तभी शुरू होगा जब राष्ट्रपति सत्रारम्भ का सम्मन जारी करें।

स्थगन : सत्र को सदन के सभापति द्वारा एक लधुवधि के लिए सत्र के मध्य स्थगित किया जाता है।

विघटन– लोक सभा का विघटन राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह पर करता है इससे लोक सभा का जीवन ही समाप्त हो जाता है। इसके बाद आम चुनाव ही होते हैं।

सत्र– उस परिधि या अवधि को कहा जाता है जिसमें लोक सभा कार्यात्मक कार्यवाही करती है।

2.2.17. संदर्भ ग्रन्थ सूची

- भारत का संविधान : डा. जयनारायण पाण्डे
- भारत का संविधान (एक परिचय) : बृजकिषोर शर्मा
- भारतीय प्रषासन : डा. बी. एल. फाडिया
- भारतीय संविधान तथा नागरिक जीवन : डा. पुखराज जैन

2.2.18. बोध प्रष्न

- लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता है?
- लोक सभा की शक्तियों एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।
- लोक सभा एवं राज्य सभा के मध्य तुलनात्मक अध्ययन कीजिये।
- लोक सभा के मुख्य पदाधिकारियों की चर्चा कीजिये।

खण्ड–3 व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका

इकाई–3 संसद की सर्वोच्चता एवं लोकसभा अध्यक्ष

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देष्य
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. संघीय संसद
3.3.3. भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति (क्या संसद सम्प्रभु है)।
3.3.4. भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियॉ
3.3.5. लोक सभा के अध्यक्ष का पद एंव कार्यकाल
3.3.6. अध्यक्ष की शक्तियॉ और कार्य
3.3.7. संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की भूमिका
3.3.8. अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति
3.3.9. भारतीय अध्यक्ष की ब्रिटिष और अमेरिका अध्यक्ष से तुलना
3.3.10. सारांष
3.3.11. शब्दावली
3.3.12. संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.3.13. बोध प्रष्न

3.3.0. उद्देष्य :

1. संघवाद किसे कहते है तथा संघीय संसद किसे कहते है इनके बारे में बता सकेगे,
2. भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति एवं सम्प्रभुता के विषय में बता सकेंगे,
3. संसद के कार्य एवं शक्तियों के विषय में बता सकेगे,
4. लोक सभा अध्यक्ष, पद, कार्य एवं शक्तियों के विषय में बता सकेंगे,
5. संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की भूमिका तथा उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में बता सकेंगे,
6. भारतीय अध्यक्ष की तुलना अमेरीका और ब्रिटिष अध्यक्ष से कर सकेगे।

3.3.1. प्रस्तावना

एक देष के संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो विभाजन या केन्द्रीकरण किया जाता है उस दृष्टि से दो प्रकार की शासन व्यवस्थाएं होती है– एकात्मक शासन या संघात्मक शासन। भारत क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से अत्यधिक विषाल और बहुत अधिक विधिधताओं से परिपूर्ण है। इसलिए यहां संविधान द्वारा संघात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। संघात्मक शासन व्यवस्था के कारण शक्तियों का विभाजन केन्द्र और राज्य के बीच किया गया है। केन्द्र सरंकार की सभी कार्यवाहियें को संसद के माध्यम से पूरा किया जाता है। संसद तीन अंगो से मिलकर बनी है। राज्यसभा, लोक सभा और राष्ट्रपति।

3.3.2. संघीय संसद (Indian Parliament)- हमारे संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय विधान–मण्डल को संसद की संज्ञा की गयी है। और संसद द्विसद्वनात्मक सिद्धान्त के आधार पर गठित की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 79 में लिखा है,

संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी, जिसके नाम क्रमषः राज्य सभा और लोक सभा होगे। भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र को पभावपूर्ण बनाने के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का समन्वय करना सिद्धान्तः आवष्यक था। अतः राष्ट्रपति को भी ससंद का अभिन्न भाग बनाया गया है।

3.3.3. भारतीय संसद की संवैघानिक स्थिति (क्या संसद सम्प्रभू है?) (Constitutional Position of Indian Parliament A Soverngning Body\)

डा. राजेन्द्र प्रसार के अनुसार, ''जन तन्त्रात्मक प्रणाली का केन्द्र बिन्दु राष्ट्र की ंसद है। प्रषासन की बागडोर चाहे किसी दल या वर्ग के हाथ में हो, जब तक संसद के अधिकार अक्षुण्ण है ओर कार्यक्षेत्र तथा कार्य संचालन की दृष्टि से उसका स्वरूप सम्प्रभु है वह राष्ट्र बड़े से बड़े संकट का सामना कर सकता है। भारतीय संविधान सभा के सामने महत्वपूर्ण प्रष्न यह था कि संसद की स्थिति के सम्बन्ध में ब्रिटेन की व्यवस्था को अपनाया जाये या अमरीका की व्यवस्था को। ब्रिटेन में ससंद की सर्वोच्चता है जिसके अनुसार संसद किसी भी विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है और संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी भी सत्ता के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती है। ब्रिटिष संसद की शक्ति और अधिकार दोनो इतना सर्वोपरि और पूर्ण है कि इसकी कोई सीमाएं नहीं बांधी जा सकती। ''डी लोमे ने तो बिटिष संसद के बारे में यहां तक कह डाला है कि ''संसद सभी कुछ कर सकती हैं सिवाय सत्री को पुरूष और पुरूष को सत्री नहीं बना सकती है''। दूसरी और अमरीका की कांग्रेंस एक सर्वोच्च संस्था नहीं है। संघात्मक व्यवस्था तथा लिखित एवं कठोर संविधान के कारण अमरीकी कांग्रेस की कानून निर्माण की शक्तियॉ सीमित है। इसके अलावा अमरीका में न्यायकि पुनर्विलोकन की व्यवस्था है। और इस कारण अमरीका की कांग्रेस मे जिन कानूनों का निर्माण किया है उन्हें सर्वोच्च न्यायाल के सामने चुनौती दी जा सकती है। इस व्यवस्था के कारणयह कहा जाता है कि अमरीका में न्यायपालिका की सर्वोचच्ता है व्यवस्थापिका की नहीं।

भारतीय संविधान में ब्रिटिष ओर अमरीकी पद्धति के बीच का मार्ग अपनाया गया है। संविधान निर्माता संसद की प्रभुसत्ता के आदर्ष से प्रभावित थे और इसे अपनाना चाहते थे। लेकिन हमारे संविधान–निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि ब्रिटिष ढंग की संसदीय प्रभुता स्वीकार करने में अनेक संस्थानात्मक कठिनाइयॉ उत्पन्न हो सकती है, वे तो भारत के लिए व्यावहारिक शासन व्यवस्था चाहते थेजो कि भारतीय वातावरण में पोषित हो सके। इसी कारण भातरीय संसद को ब्रिटिष संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया। भारत की संघात्मक व्यवस्था, लिखित एवं कठोर संविधान और मौलिक अधिकारेां की व्यवस्था के कारण संसद को सभी विषयेां में कानून निर्माण की शक्तियां नहीं दी जा सकती थी और न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था को अपनाना आवष्यक था। अतः भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन को अपनाया गया है, लेकिन न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था उतनी सीमा तक नहीं है जितनी सीमा तक यह अमरीकी संविधान में है। दुर्गादास बसु के शब्दों में ''भारतीय संविधान में अद्भुत ढंग से अमरीका के न्यायालय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त एवं इग्लैण्ड के संसदीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के बीच का मार्ग अपनाया गया है।'' केषवानन्द भारती विवाद में प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री एन.

पालकीवाला ने श्री भारतीय संसद की सम्प्रभुता को अस्वीकार करते हुए कहा था कि ''भारतीय संविधान के अन्तर्गत संसद की शक्तियॉ मर्यादित है। संसद न तो बुनियादी नागरिक स्वतन्त्रताओं को हरण कर सकती है। और न ही संविधान के अनिवार्य और स्थायी तत्वों को संषोधित कर सकती है।'' संक्षेप में भारतीय संसद की सम्प्रभुता पर कतिपय निम्न मर्यादाए हैं–

3.3.3.1. लिखित संविधान : – संसद देष के लिखित संविधान की षिषु है। संसद की सार्वभौमिकता हमारे लिखित संविधान के विभिन्न प्रावधानों द्वारा सीमित है। सवंधिान के अनुच्छेद 245 (1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। अमरीकी शासन प्रक्रिया के सदृष्य भारतीय प्रणाली में भी दो प्रकार के कानूनों के अन्तर पाया जाता है। ये दो प्रकार के कानून साधारण कानून और संवैधानिक कानून के नाम से जाने जाते है। साधारण कानून का निर्माण संवैधानिक कानून के अन्तर्गत स्थापित विभिन्न व्यवस्थापिकाओं द्वारा किया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्थापिकाएं संविधान के विरूद्ध कानून का निर्माण नही कर सकती।

3.3.3.2. संघवाद सम्बन्धी प्रावधान : भारत के संधात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण राज्य सूची के विषयों पर संसद की कानून बनाने की शक्ति सीमित हो गई है। प्रो. टी. के.टोपे ने लिखा है कि ''भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधायिका है। ब्रिटिष संसद के तुल्य इसकी शक्तियॉ असीमित नही हैं।''

3.3.3.3. संविधान में संषोधन :– संविधान में कतिपय अनुच्छेदो के संषोधन हेतु संसद को राज्य विधान मण्डल के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है। संविधान के वे अनुच्छेद जिनका सम्बन्ध केन्द्र राज्य सम्बन्धों से है यदि उनमें कोई संषोधन करना हो तो संसद को कम से कम आधे राज्यों के विधान मण्डल का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है।

3.3.3.4. न्यायिक पुनर्विलोकन :– संसद द्वारा पारित संविधान विरूद्ध विधि को भारत का सर्वोच्च न्यायल अवैध घोषित कर सकता है। संसदीय विधियों को हमारे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मान्यता देना आवष्यक है। बी. के. मुखर्जी के अनुसार ''यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक कानून वैधानिक है या नही।'' न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते है। यह सर्वविदित है कि गोपालन बनाम मद्रास राज्य, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, केषवानन्द भारती, आदि मामलों में सर्वोच्च न्यायाल ने संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया अथवा संसद की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाए।

3.3.3.5. राजनीतिक परिसीमाएं :– राजनीतिक दृष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी समुचित सम्मान करना होता है। संसद पर प्रधानमंत्री और मंत्रि मण्डल का भी नियन्त्रण रहता है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है।

यह सच है कि हमारी संसद की शक्तियों का क्षेत्र लिखित संविधान एवं सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली एवं प्रचार करने वाली संस्था मात्र बन गई है। वस्तुतः भारत में संसद वह नीव है जिस पर हमारे लोकतन्त्र की भव्य इमारत खडी है। संसद वह स्रोतस्वनी है जो अपनी अविरल, निर्मल और उन्मुक्त धारा से भारतीय लोकतन्त्र के हर खेत को सींचती

है। जिससे राष्ट्र को पोषण मिलता है। संसद हमारे देष का ऐसा केन्द्र बिन्दु है, जहॉ जनता की आत्मा का वास होता है।

डा. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, ''ससंद एक दल की नहीं एक बल की नहीं, किन्तु सभी की है और इसलिए वह सर्वाभौम है।''

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो भारतीय संसद की शक्तिया अन्य संघीय व्यवस्थापिकाओं से अधिक है। अमरीकी कांग्रेस तथा आस्ट्रेलियन संसद राज्य सम्बन्धी विषयों पर कानून निर्माण नहीं कर सकती है जबकि भारतीय संसद को विषिष्ट परिस्थितियों में राज्यों के लिए कानून निर्माण करने का अधिकार है। निष्कर्षतः कार्य एवं शक्ति के दृष्टिकोण से भारतीय ससद की स्थिति 'संसदीय प्रभुता' तथा न्यायिक सर्वोच्च्ता के मध्य की है।

3.3.4. भारतीय संसद के कार्य एवं शक्तियॉ

भारतीय संसद सम्प्रभु नहीं है, किन्तु यह विस्तृत शक्तियों का प्रयोग करती है तथा महत्वपूण्र कार्यों का सम्पादन करती है। इसकी शक्तियेां का उललेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

3.3.4.1. व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियॉः– संसद को संघीय–सूची तथा समवर्ती सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, सभी संघीय क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। संकट काल की उद्घोषणा के समय में राज्य सूची के विषयों पर संसद कानून बना सकती है। जब कभी दो या अधिक राज्यों के विधान मण्डल प्रस्ताव पास करके संसद के किसी विषय के बारे में कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद कानून बना सकती है। इसी प्रकार जब राज्य सभा दो–तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रीय हित में ससद को राज्य सूची के किसी विषय विषेष पर कानून बनाने का अनुरोध करे तो संसद कानून बना सकती है।

3.3.4.2. वित्तीय शक्तियॉ– संविधान द्वारा संसद को संघीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। सभी का सम्बन्धी प्रस्ताव तथा अनुदानों की मांगे संसद द्वारा स्वीकृत होने पर भी प्रभावी होती है। क्योंकि संविधान के अनुसार 'विधि के प्रधिकार' के बिना न तो कर लगाया जायेगा और न एकत्रित किया जाएगा। संसद ही प्राक्कलन और लोक लेखा समिति को नियुक्त करती है। तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के प्रविदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है। संसद की स्वीकृति के बिना सरकार को राष्ट्रीय वित्त में से खर्च का अधिकार नहीं होता है।

3.3.4.3. कार्य पालिका शक्तियॉः– भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है। अतः मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विष्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीको से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। संसद के सदस्य अविष्वास प्रस्ताव निन्दा प्रस्ताव, एवं स्थगन प्रस्ताव द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखते है तथा उसे उत्तरदायी बनाए रखते हैं। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीतियेां के समबन्ध में प्रष्न तथा पूरक प्रष्न पूछ सकते है तथा सरकार की आलोचना कर सकते है। संसद सदस्य बजट को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृत करके और सरकारी विधेयक में संषोधन करके अपना विरोध प्रदार्षित कर सकते हैं।

3.3.4.4. संविधान संषोधन से सम्बन्धित शक्तियॉ :– संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि वह संविधान में भी संषोधनश्कर सकती है। यहॉ तक कि संविधान के संषोधन की जो प्रक्रिया है । उसको भी ससद संषोधित कर सकती है।
राज्यों से सम्बन्धित शक्तिया :– संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उनकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।
3.3.4.5. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य :– संविधान के अनुच्छेद 54 के अनुसार संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियॉ प्रदान की गई है। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंष है। अनुच्छेद 66 के अनुसार, संसद सदस्य उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते है।
3.3.5.6. महाभियोग का अधिकार :– संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित विषेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है। इसी प्रकार उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों पर महाभियोग लगाने तथा उन्हें पदच्युत करने का प्रस्ताव भी संसद पारित कर सकती है।
सारांष :– इस प्रकार संसद की उपर्युक्त शक्तियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय संसद की शक्तियॉ एवं कार्य विस्तृत है। संसद सार्वजनिक विवाद–स्थल का कार्य करती है। इस दृष्टि से संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा षिक्षक के रूप में कार्य करती है। परन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि संसद को लिखित संविधान के अन्तर्गत ही अपनी कार्यवाहियॉ चलानी पड़ती हैं जब भी संविधान के जरिए संसद के कार्य में रूकावट पैदा होती है तब संसद सवंधान में संषोधन कर सकती है।

3.3.5. लोक सभा के अध्यक्ष का पद (Office of the Speaker) अध्यक्ष का पद संसदीय शासन प्रणाली में बडा ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विष्व में जहॉ पर भी संसदीय पद्धति की सरकार है, वहॉ संसद के निम्न सदन के स्पीकर को विषेष महत्व और दर्जा प्राप्त होता है। सवंधिान के अनुसार, अध्यक्ष का निर्वचन लोक सभा स्वयं करती है।
3.3.5.1. अध्यक्ष का कार्यकाल : अध्यक्ष निर्वाचन के समय से लेकर, उस लोक सभा के विघटर के बाद अगली लोकसभा की पहली बैठक से फौरन पहले तक अपने पद पर रहता है। वह दुबारा चुना जा सकता है। अध्यक्ष यदि लोक सभा सदस्य न रहे तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है। लोक सभा के विघटन पर यद्वपि अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनें लोक सभा के सदस्य नहीं रहते, केवल उपाध्यक्ष ही अपना पद छोड़ता है। जब भी अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता है इस सम्बन्ध में एक अधिसूचना गजट में प्रकाषित की जाती है। अध्यक्ष को अपने सारे कार्यकाल में अपने पद के कृत्यों का निर्वहन करना पड़ता है। स्थान से अनुपस्थित होने या बीमारी की दषा में वह अपने काम उपाध्यक्ष को नहीं सौंप सकता। अध्यक्ष किसी भी समय उपाध्यक्ष को पत्र लिखकर अपने पद से त्याग–पत्र दे सकता है।
3.3.5.2. अध्यक्ष का हटाया जाना :– अध्यक्ष को लोक सभा में उसके उस समय के सदस्यों के बहुमत से संकल्प पास करके उनके पद से हटाया जा सकता है। ऐस संकल्प को प्रस्तावित करने के लिए कम से कम चौदह (14) दिन की सूचना देनी

पड़ती है। चौदह दिन का हिसाब लगाते समय प्रारम्भ और अन्त के दोनें दिन छोड़ दिये जाते है। जो सदस्य अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प की सूचना देना चाहे उसे यह सूचना लिखित रूप में सचिव को देनी पड़ती है। लोक सभा की बैठक में, जब अध्यक्ष को पदच्युत करने के संकल्प पर विचार हो रहा हो तो वह सभा की अध्यक्षता नही करेगा।

3.3.5.3. अध्यक्ष द्वारा शपथ ग्रहण : – अध्यक्ष को अपना पद संभालने पर शपथ नहीं लेनी पड़ती और न प्रतिज्ञा ही करनी पड़ती है। वह लोकसभा के सदस्य के नाते ही श्पाथ ग्रहण करता है।

3.3.6. अध्यक्ष की शक्तियॉ एवं कार्यः– लोक सभा का सबसे महत्वषाली रूढ़िगत और औपचारिक प्रधान लोक सभा का अध्यक्ष है। सभा में उसका प्राधिकार सर्वोच्च है। यह प्राधिकार अध्यक्ष की अन्न्य निष्पक्षता पर आधारित है। उसकी शक्तियों तथा उसके कर्त्तव्यों का उल्लेख नियमों में तथा कुछ हद तक संविधान में किया गया है। जिन नियमों के अनुसार उसे अपना काम करना होता है। वे नम्य है। और कुछ मामलों में उसे अपने विवेक से काम लेना पड़ता है। उसके कर्त्तव्य बड़े कठिन है, जो निम्न प्रकार हैं :

1. जहॉ तक संसद के दोनें सदनों के परस्पर सम्बन्धों का प्रष्न है, उनमे कुछ मामलों में संविधान ने अध्यक्ष को विषेष स्थिति प्रदान की है। यह निर्णय अध्यक्ष ही करता है कि कौन विषय 'धन' सम्बन्धी विषय है क्योंकि ये लोक सभा के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। यदि अध्यक्ष किसी विधेयक के सम्बन्ध में यह प्रमाण–पत्र दे दे कि यह धन विधेयक है तो उसका निर्णय अन्तिम होता है।
2. जब भी दोनों सदनों के बीच किसी विधान के सम्बन्ध में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक बुलाई जाती है। तो उकसी अध्यक्षता लोक सभा का अध्यक्ष करता है और बैठक के सम्बन्ध में प्रक्रिया नियम उसके निदेषों तथा आदेषों के अन्तर्गत लागू होते हैं।
3. जब किसी प्रष्न के पक्ष और विपक्ष में बराबर–बराबर मत आते है तो स्पीकर निर्णायक मत देता है।
4. संविधान के अनुसार उसे लोक सभा की बैठक स्थगित करने या गणपूर्ति ने होने की दषा में बैठक निलम्बित करने की भी शक्ति प्रात है।
5. उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपने विवेक से किसी ऐसे सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने की अनुमति दे जो अपने विचार हिन्दी या अंग्रेजी में भलीभॉति व्यक्त नहीं कर सकता।
6. कार्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए अध्यक्ष सभा की बैठक के प्रारम्भ या समाप्त होने का समय नियत करता है और निर्णय करता है कि सभा की बैठक किस–किस दिन होगी। वह यह भी निर्णय करता है कि किस समय सभा की बैठक अनिष्चित काल के लिए या किसी अन्य दिन या उस दिन के किसी समय तक के लिए स्थगित की जाती है।
7. सदन के नेता से परामर्ष करके वह सरकारी कार्य का क्रम निर्धारित करता है और यदि उसका समाधान हो जाए कि उस क्रम में परिवर्तन करने का समुचित आधार है तो उसे वह बदल सकता है।

8. अध्यक्ष को लोक सभा में दलो तथा समूहों को मान्यता देने की भी शक्ति प्राप्त है।
9. वह लोकसभा की कार्यवाही का संचालन करता है।
10. लोक सभा की गुप्त बैठकों में अध्यक्ष ही यह निर्णय करता है कि कार्यवही का वृतान्त कैसे तैयार किया जाए और ऐसे अवसरें पर किस प्रक्रिया का पालन किया जाए।
11. लोक सभा में व्यवस्था बनाए रखना अध्यक्ष की जिम्मेदारी है। और वह सदस्यों से नियमों का पालन करवाता है। कौल तथा शकधर के अनुसार, '' सभा में व्यवस्था बनाए रखना अध्यक्ष का मूल कर्त्तव्य है। उसकी अनुषासनात्मक शक्तियों का उद्गम सभा नियम है और अनुषासन सम्बन्धी मामलों में उनके निर्णय को सिवाय मुख्य प्रस्तावके माध्यम से और किसी प्रकार से चुनोती नहीं दी जा सकती।'' अध्यक्ष किसी सदस्य के भाषण की असंगत बातो या उसमें दोहराई जाने वाली बातों को रोक सकता है। और उससे कह सकता है कि या तो अपने शब्द वापस ले या उनके लिए खेद प्रकट करे। अध्यक्ष अपने स्वविवेक का प्रयोग करके वाद–विवाद में प्रयुक्त अपमानजनक या अष्लील शब्दों या किसी ऐसे सदस्य द्वारा कही गई किसी बात को कार्यवाही के वृतान्त से निकाल सकता है, जिसे बोलने की अनुमति न दी गई हो। जो सदस्य उच्छंखल व्यवहार का दोषी हो उसे अध्यक्ष सीाा का त्याग करने के लिए कह सकता है। यदि कोई सदस्य अध्यक्ष के अधिकार की अवहेलना करे और लगातार सभा की कार्यवाही में बाधा डालता रहे तो अध्यक्ष उसका नाम लेकर उसे सभा से निलम्बित कर सकता है। यदि लोकसभा में शोरगुल और अव्यवस्था हो तो वह सभा को स्थगित कर सकता है या उसका कार्य निलम्बित कर सकता है।
12. यह अध्यक्ष ही तय करता है कि कब किस सदस्य को बोलने का अवसर दिया जाय और उसे कितनी देर बोलने दिया जाय। जब भी आवष्यक हो वह भाषणों की समय सीमा निर्धारित कर सकता है।
13. वह सभा के विचार के लिए प्रस्ताव प्रस्तावित करता है और उन प्रस्तावों को सभा के निर्णय के लिए उसके सामने रखता है। सदस्य जो व्यवस्था का प्रष्न उठाते हे उन पर अध्यक्ष ही अपना निर्णय देता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।
14. अध्यक्ष को यह शाक्ति प्राप्त है कि वह विधेयको तथा संकल्पों के सम्बन्ध में रखे गये संषोधनों में से कुछ को सभा के सामने पेष करने के लिए चुन सकता है और किसी भी ऐसे संषोधन को सभा के सामने रखने से इन्कार कर सकता है जो उसके विचार में तुच्छ हो।
15. लोक सभा में याचिकाएं पेष करने के लिए भी अध्यक्ष की स्वीकृति आवष्यक है।
16. लोक सभा के नेता के परामर्ष से वह बजट, विनियोग विधेयक और वित्त विधेयक पर सभा द्वारा विचार करने के लिए दिन और समय नियत करता है।

17. उसकी सहमति के बिना किसी सदस्य, सभा या उसकी सहमति के विषेषाधिकार भंग के समबन्ध में कोई भी प्रष्न सभा में नहीं उठाया जा सकता।
18. सभी संसदीय समितियों पर अध्यक्ष का सर्वोच्च नियन्चण है वह उनके सभापतियों की नियुक्ति करता है और उनके काम के संगठन या उनके द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऐसे निर्देष दे सकता है। जो वह आवयक समझे। वह उकने साथ समय–समय पर परामर्ष करता है और उनका मार्ग–दर्षन करता है। समितियेां के समबन्ध में कुछ शक्तियॉ अध्यक्ष के लिए आरक्षित है। कोई समिति पहले से अध्यक्ष से अनुमति लिए बिना संसद भवन से बाहर अपनी बैठक नहीं कर सकती और न ही उसकी पूर्व स्वीकृति लिए बिना राज्य सरकार के अधिकरियों की गवाही देने के लिए बुला सकती है।
19. सभा की कतिपय समितियां जैसे 'कार्य मन्त्रणा समिति' 'सामान्य प्रयोजन समिति' और नियम समिति अध्यक्ष के नेतृत्व में ही काम करती है और अध्यक्ष ही इनका सभापित होता है।
20. जहॉ तक लोक सभा या उससे सम्बन्धित मामलों का प्रष्न है उनके बारे में संविधान तथा नियमों की व्याख्या करने का अधिकार अध्यक्ष को है और कोई भी सरकार इस सम्बन्ध में अध्यक्ष के साथ वाद–विवाद नहीं कर सकती।
21. अध्यक्ष अपने आसन पर बैठकर जो विचार प्रकट करता है वह उनके सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से या समाचारपत्रों में किसी वाद–विाद में नहीं पड़ता।
22. अध्यक्ष सभा में विधन सम्बन्धी निर्देष भी करता है, सभा की अवधि समाप्त हाने पर विदाई भाषण देता है और साथ ही महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में औपचारिक अवसरेां पर भी भाषण देता है।
23. लोक सभा के नियमों मे अन्तर्गत अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त है कि जब कोई विधेयक पास हो जाये तो वह उसमें प्रत्यक्ष गलतियेां को शुद्ध करता है और अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सभा द्वारा स्वीकृत संषोधनों के आनुषांगित हो।
24. जब कोई विधेयक संसद द्वारा पारित कर दिया गया है और उस समय सभा में हो तो अध्यक्ष से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए भेजने से पहले उस पर हस्ताक्षर करके उसे प्रमाणित करे।
25. अध्यक्ष सचिवालय का प्रमुख है जो कि उसके नियन्त्रण तथा निर्देषों के अन्तर्गत कार्य करता है। लोक सभा के समस्त कर्मचारियों, उसके परिसर तथा सुरक्षा के सम्बन्ध में अध्यक्ष का अधिकार सम्पूर्ण है। सभी अजनबी आगन्तुक तथा समाचार पत्रों के संवाददाता उसके अनुषासन तथा आदेष के अधीन है।

26. लोक सभा के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा उसकी जिम्मेदारी है। वह सदस्यों के लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था करता है। अध्यक्ष की अनुमति लिए बिना किसी भी सदस्य को सभा के परिसर में न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न फौजदारी या दीवानी कानून के अन्तर्गत कोई आदेषिका उसे दी जा सकेगी।

लोक सभा अध्यक्ष मन्त्रियों से पूछे जाने वाले प्रष्नों के सम्बन्ध में भी विभिन्न शक्तियॉ रखता है। अध्यक्ष यह फैसला कर सकता है कि किसी प्रष्न का मौखिक के स्थान पर लिखित उत्तर दे या उपुयक्त है।

उपरोक्त शक्तियो तथा कार्यों से स्पष्ट है कि हमारी लोक–सभा के अध्यक्ष की विषाल शक्तियॉ है। इन शक्तियों एवं अधिकारों के प्रयोग से ही वह हमारी विषाल सभा का सफलता पूर्वक संचालन एवं नेतृत्व करता है।

2.3.7. संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की भूमिका :– अध्यक्ष की कोई राजीनति नहीं होती उसे संसदीय शासन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना होता है। उसके पास और कुछ नहीं होता केवल अपने व्यक्तित्व अपनी आवाज, महत्व और गौरव से ही वह सदन की व्यवस्था बनाए रखता है। सारे सदन की सत्ता उसके पीछे होती है। श्री जी. वी. मावलकर लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष थे। 15 मई 1952 से 27 फरवरी 1956 तक वे लोकसभा के अध्यक्ष रहे। 27 फरवरी 1956 को उनका देहान्त हो गया। पूरे देष में उनके असामायिक देहावसान पर शोक मनाया गया। उनहोंने अपने कार्यकाल में अनेक ऐसी परम्पराएं डाली कि उन्हें लोक सभा का पिता कहा जाता है। उन्होंने यह घोषणा की कि वे अध्यक्ष के पद पर निष्पक्ष रहने की परम्परा का तो पालन करेंगे किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से अपना सम्बन्ध नहीं तोडेगें। उनका तर्क था कि जिस संस्था के झण्डे के नीचे उन्होंने स्वाधीनता की लडाई लड़ी है उससे कैसे सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। उन्होंने लोक सभा का मर्गदर्षन निष्पक्षता, गरिमा तथा प्रतिष्ठा के साथ किया। उन्होंने विधान मण्डल के पीठासीन अधिकारियों को निष्पक्ष रहने का परामर्ष दिया। मावलकर के पष्चात एम. अनन्तषयनम् आयंगर को 8 मार्च 1956 को अध्यक्ष के पद पर निर्वाचित किया गया। उनहोंने 1962 तक अध्यक्ष के पद पर कार्य किया। वे अपने कर्त्तव्य पालन में बहुत कठोर थे और कभी–कभी सदन की कार्यवाही में हंसी–मजाक का पुट भी ला देते थे। जब आयंगर को बिहार का राज्यपाल बनाया गया तो उनके स्थान पर सरकार हुकमसिंह को तीसरी लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। दूसरी लोकसभा के उपाध्यक्ष के रूप में उनहोंने पूरे देष में विषिष्ट ख्याति अज्रित कर ली थी और तीसरी लोकसभा की अध्यक्षता के कार्य को उन्होंने अपनी योग्यता, प्रतिभा तथा संसदीय विद्वता से कुषलता पूर्वक चलाया। चतुर्थ लोक सभा की अध्यक्षता का भार भी संजीव रेड्डी पर डाला गया । इस समय बदली हुई दलीय स्थिति में उन्हे कार्य करना पड़ा। सदन में कांग्रेस दल का इतना बहुमत नहीं था जितना की पूर्व की लोकसभाओं में था। उन्होंने अध्यक्ष पद का निर्वाचित होते ही कांग्रेस दल से अपना सम्बन्घ विच्छेद कर लिया। संजीव रेड्डी ने राष्ट्रपति का चुनाव लडने हेतु लोकसभा की अध्यक्षता से त्याग पत्र दे दिया। उनके बाद श्री गुरूदयाल सिंह ढिल्लन को लोक सभा का अध्यक्ष बनाया गया। डा. ढिल्लन के दूसरी बार अध्यक्ष पद पर चुने जाने पर प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में कहा था– सभा का पिछले दो वर्ष का समय शान्तिपूर्ण नहीं कहा

जा सकता। सभा में छोटे–बड़े हंगामे, जटिल संवैधानिक मामले प्रक्रिया सम्बन्धी विवाद कुछ व्यवस्था के प्रष्न उठाये जाते रहे हैं। किन्तु श्री ढिल्लन ने सदैव संसदीय आचरण के मूल सिद्धान्तों का कायम रखते हुए तथा अपनी सौजन्य एवं निष्पक्षता जो उनकी विशेषताएं है में ढील नहीं आने दी। श्री ढिल्लन के मन्त्रि–पद ग्रहण करने के बाद श्री बलीराम भगत को अध्यक्ष पर पर आसीन किया गया। वे लोकसभा के छठे अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा था ''क्योंकि लोकसभा का अध्यक्ष सभी दलों के प्रति समान रूप से उत्तरदायी हैइसलिए उसका निष्पक्ष होना बहुत आवष्यक है। इस दिषा में भूतपूर्व अध्यक्षों ने जो नियम आदर्ष और परम्पराएं कायम की है। मैं उनका यथाषक्ति अनुकरण करूंगा। **''श्री बलीराम भगत** (5 जनवरी 1976–25 मार्च, 1977) के बाद भी नीलम संजीव रेड्डी और उसके बाद के. एल. हेगडे ने लोकसभा की उच्च परम्पराओं को निष्ठापूर्वक संवारा और सुदृढ़ किया। 1980–89 की लम्बी अवधि तक री बलराम जाखड़ लोक सभा के स्पीकर पर पर आसीन रहे। बोफोर्स मुद्दे पर दबाव में आई राजीव सरकार को बचाने के लिए बलराम जाखड़ ने जेहादी उत्साह दिखाया। उन्होनें लोक लेखा समिति की अध्यक्षता विपक्ष के किसी सदस्य को देने की 19 साल पुरानी परम्परा उलट दी और उस समय इंका की सहयेागी अन्नाद्रमुक के एक सदस्य को इसका अध्यक्ष बना दिया। श्री रविराय दिसम्बर 1989 में नौवीं लोकसभा चुनावों के बाद स्पीकर पद पर सर्वसममति से निर्वाचित हुए। दसवीं लोकसभा के चुनाव (1991) के बाद श्री षिवराज पाटिल लोक सभा अध्यक्ष चुने गये। षिवराज पाटिल ने स्पीकर पर की खोई गरिमा को कुछ–कुछ सीमा तक बहाल करने के प्रयास किया। वे दायित्व पूरा न करने वाले मंत्रियों व गलती करने वाले विपक्षी सदस्यों दोनों को फटकारते। उन्होंने सदन की कार्यवाही आमतौर पर इस प्रकार चलाई कि वे आलोचना से बचे रहे। 11वीं लोक सभा (1996) के चुनावों के बाद श्री पी. ए. संगमा अध्यक्ष पद पर निर्विरोध निर्वाचित हुए। अपनी निष्पक्षता योग्यता में अपूर्व वृद्धि की। 12 वीं एवं 13 वीं लोकसभा चुनावों के बाद तेलगुदेषम् के श्री बालयोगी स्पीकर पद पर आसीन हुए। बालयेाग के निधन के बाद षिवसेना के मनोहर गजानन जोषी स्पीकर निर्वाचित हुए। मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी के वरिष्ठ नेता सोमनाथ चटर्जी 14 वीं लोकसभा में स्पीकर पद (4 जून, 2004) पर निर्विरोध र्विाचित हुए। 75 वर्षीय चटर्जी लोकसभा के वरिष्ठतम सांसद थे। वह 10वीं बार लोकसभा के लिए पष्चिम बंगाल से निर्वाचित हुए थे।

श्यामलाल शकधर लिखते है, ''अनन्तषयनम् आयंगर के अध्यक्ष काल में सभा की कार्यवाहियेां में गतिषीलता देखने को तथा सजीवता देखने को मिली, सरदार हुकुमसिंह ने अध्यक्ष पद को प्रतिष्ठा, गरिमा तथा कृत्येां और विचारेां में परिपक्वता द्वारा उन्नत बनाया। डा. संजीव रेड्डी ने अपना कार्यकाल निष्पक्षता तथा सभा की कार्यवाहियों में सजीवता से पूर्ण किया।''

इस प्रकार भारत में संसदीय शासन के विकास में अध्यक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनका व्यक्तित्व एवं येागदान सरहानीय रहा है। जिससे संसद की मान मार्यादा बढ़ी है।

3.3.8. अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति ' (Actual Position of the Speaker)

अध्यक्ष सदन की प्रतिष्ठा, शक्ति तथा गौरव का द्योतक है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री पं. नेहरू के शब्दों में ''अध्यक्ष सभा का प्रतिनिध है। वह सभा की गरिमा

और उसकी स्वतन्त्रता का प्रतीक है और चूंकि सभा राष्ट्र का प्रतिनिधत्व करती है। अतः एक तरह से आध्यक्ष राष्ट्र की स्वतन्त्रता और आजादी का प्रतीक बन जाता है। अतः यह उचित ही है कि अध्यक्ष का पद सम्मानित पद है। उसकी स्वतन्त्र स्थिति है और उस पद पर वही व्यक्ति आसीन होने चाहिए जो साधारण रूप से योग्य तथा निष्पक्ष हो। ''लोकसभा के भूतपूर्व सचिव एम. एन. कौल के अनुसार, ''यद्यपि साधारणतया अध्यक्ष अध्यक्षता करता है, निगरानी रखता है तथा विवादों को नियन्त्रित करता है, लेकिन उसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि किसी भी संकट में उकसी शक्तियां राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। यथार्थ में भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोकसभा का अध्यक्ष उस सन्तुलन चक्र के समान है। जिससे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में सरकार की ओर से मैं यह कहूॅगा कि हम यह चाहेगे कि माननीय अध्यक्ष अब और हमेषा सदन की स्वतन्त्रता की रक्षा प्रत्येक प्रकार से खतरे में करेगे।– कार्यपालिका के अतिक्रमण के खतरे से भी। यह खतरा हमेषा बना रहता है कि एक राष्ट्रीय सरकार अल्पसंख्यको के विचारों का दमन करने का प्रयत्न करे और ऐसी स्थिति में अध्यक्ष का यह दायित्व हो जाता है कि वह सदन के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक इकाई की एक प्रभुत्वपूर्ण सरकार से रक्षा करें। अध्यक्ष के निर्णय को केवल प्रस्ताव रखकर ही चुनौती दी जा सकती है, वैसे उन पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। जो सदस्य अध्यक्ष के विनिर्णय पर विरोध प्रकट करता है वह सभा और अध्यक्ष के अवमान का दोषी होता है। अध्यक्ष अपने निर्णय के कारण बताने के लिए बाध्य नहीं हेाता। अध्यक्ष द्वारा दिए गये विनिर्णय या वक्त किए गए विचार या दिए गए वक्त्तव्य की आलोचना नहीं की जा सकती।

लोक सभा का अध्यक्ष भारतीय संसदीय समूह का पदेन सभापति होता है जो भारत में अर्न्तसंसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह और राष्ट्र मण्डल संसदीय संस्था की मुख्य शाखा के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति के परामर्ष से विदेषों को जाने वाले विभिन्न संसदीय प्रतिनिधि मण्डलों के लिए सदस्यों के नामों का निदेषन करता है। कभी–कभी वह स्वयं इन प्रतिनिधि मण्डलों का नेतृत्व करता है।

संसदीय सचिवालय और सदन की इमारत अध्यक्ष के नियन्त्रण में होती हैं इस दिषा में सारा प्रषासन अध्यक्ष के आदेष से ही चलता है। सदन के कार्य को चलाने सम्बन्धी सारे अधिकार भी अध्यक्ष को प्राप्त होते हैं

प्रो. पापली के अनुसार कुछ ही वर्षों के भीतर लोक सभा के अध्यक्ष पद ने सदन की गरिमा को अपनी निष्पक्षता द्वारा बनाए रखा है। प्रारम्भ में मावलंकर जेसे अध्यक्ष इस विचार धारा के थे कि सदन में वह निर्दलीय व्यक्ति के समान आचरण करे, किन्तु सदन के बाहर वह दलगत निष्ठाएं रख सकता है, परन्तु बाद में अध्यक्षेां जैसे नीलम संजीव रेड्डी तथा गुरूदयाल सिंह ढिल्लन ने अध्यक्ष पद धारण करते ही दल की राजनीति से सन्यास ले लिया। अध्यक्ष को भारत में सातवां स्थान प्राप्त है, जो सर्वोच्च न्यायाल के न्यायाधीष के बराबर का है।

अध्यक्ष को लोक सभा का अभिभावक का सा दायित्व निभाना होता है। सदन में व्यक्तिगत आरोप –प्रत्यारोप के बजाय स्वस्थ विचारों के आदान–प्रदान को समुचित अवसर प्रदान करना होता। ऐर्स्किन में ने कहा है– '' अध्यक्ष की तटस्थता में विष्वास प्रक्रिया के सफल रूप में संचालन के लिए अनवार्य है। बहुत सी

परिपाटियॉ ऐसी है जिनका उद्देष्य न केवल यह है कि अध्यक्ष की तटस्थता बनी रहे बल्कि यह भी कि उसकी तटस्थता को सभी स्वीकार करें।'' भारत में अध्यक्षता करने वाले व्यक्तियें ने दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कार्य किया है। जिससे उसकी गरिमा में वृद्धि हुई है।

3.3.9. भारतीय लोक सभा अध्यक्ष की ब्रिटिष और अमरीकी अध्यक्ष से तुलना (Comparison of Indian speaker with British and American Speaker)

ब्रिटेन की भॉति भारत में लोकसभा के अध्यक्ष का दर्जा बहुत सम्मान का है। भारत के अध्यक्ष की स्थिति इंगलैण्ड और अमरीका के बीच की है। इसका कारण यह है कि भारत में लोकसभा का अध्यक्ष न तो अपना सम्बन्ध राजनीतिक दलों से और दलगत राजनीति से इतना तोड़ लेता है जितना ब्रिटेन में और न ही पद ग्रहण करने के बाद इतना पक्षपात करता जितना अमेरिका जितना अमेरिका में प्रतिनिधि सदन का अध्यक्ष। भारत में अध्यक्ष अपने चुनाव के बाद अपने दल से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता है, परन्तु सक्रिय दलीय राजनीति में भाग नहीं लेता है। वह सदन की कार्यवधि अत्यन्त निष्पक्ष रूप से चलाता है।

सरदार हुकमसिंह का यह कथन भारतीय अध्यक्ष की निष्पक्षता का कितना सुन्दर उदाहरण है– आपको मालूम होगा कि एक तरफ जहॉ विरोधी दलों के कुछ सदस्यों ने मेरी निष्पक्षता को चुनौती दी है, वही दूसरी ओर सत्तारूढ़ दल के सदस्यों ने प्रतिपक्ष के प्रति मेरे झुकाव की षिकायत की है। क्या प्रतिक्रिया का यह अन्तर्विरोध मेरी निष्पक्षता का प्रमाण नहीं है? ''फिर भी भारत में वह सम्मान नहीं मिल पाया जो ब्रिटेन में अध्यक्ष को प्राप्त है। वहॉ अध्यक्ष अपने दल से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता है और उसका निर्वाचन भी निर्विरोध होता है। अध्यक्ष के निर्वाचन के समय पी. जी. मावलंकर ने कहा है कि यदि कुछ विरोधी दलों के सदस्यों ने आपका विरोध किया है। उसका भाव आपका व्यक्तिगत विरेाध करना नहीं था, वह विरोध तो मात्र इसलिए था कि आप कांग्रेसी उम्मीदवार थे। 18 दिसम्बर, 1954 को तो लोक सभा में अध्यक्ष के विरूद्ध प्रस्ताव भी पेष किया गया। विरोधी दल आम चुनाव में अध्यक्ष के विरूद्ध प्रत्याषी भी खड़ा करते रहे है। सदन में अध्यक्ष के निर्वाचन के समय भी विपक्षी दलों ने अपनी प्रत्याषी खड़े किए है। श्री मॉरिस जोन्स अपनी पुस्तक Parliament In Iandia में एक स्थान पर लिखते है।

''अध्यक्ष पदधारी व्यक्ति के लिए आवष्यक है कि वह निष्पक्षता पूर्वक आचरण करे और सभी व्यक्तियों को उसकी निष्पक्षता से पूर्ण विष्वास हो।''

अध्यक्ष की निष्पक्षता में सभी व्यक्तियेां का विष्वास हो इसके लिए आवष्यक है कि लोक सभा के सदस्य द्वारा अध्यक्ष चुने जाने के बाद अपनी दलगत निष्ठाओं का त्याग कर दिया जाए।

3.3.10. सारांष – उपरोक्त विवरण के अध्ययन से पता चलता है कि लोक सभा अध्यक्ष का पद एक सम्मान का पद है। लोक सभा का अध्यक्ष प्रतिष्ठा, गौरव व शक्ति का द्योतक है। भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोक सभा का अध्यक्ष उस संतुलन चक्र के समान है जो सदन की व्यवस्था को बनाए रखता है और प्रत्येक प्रकार के खतरे से उसकी रक्षा करता है। भारत में लोक सभा अध्यक्ष को सॉतवा स्थान प्राप्त है जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष के बराबर है। लोक सभा का

अध्यक्ष एक अभिवावक के समान दलीय भावना से दूर रहकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। तथा सदन की कार्यवाही का संचालन निषक्षता पूर्वक करता है। भातर में अध्यक्ष पद पर कार्य करने वाले व्यक्तियों ने दलगत राजीनति से ऊपर उठकर इस पद पर कार्य किया है जिससे इस पद की गरिमा में वृद्धि हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संसदीय व्यवस्था में लोक सभा अध्यक्ष का पद गरिमा, प्रतिष्ठता व शक्ति के साथ–साथ निष्पक्षता को भी प्रदर्षित करता है।

3.3.11. शब्दावली – सम्प्रभुतास्मपन संसद – ब्रिटिष काल में जिस विधान मण्डल की स्थापना की गयी थी वह बहारी शक्ति ब्रिटिष संसद के अधीन था, लेकिन नवीन संविधान के अन्तर्गत गठित भारतीय संसद किसी भी बहारी शक्ति के अधीन नहीं है। और इस दृष्टि से इसे सम्प्रभुता सम्पन्न विधान मण्डल (Sovereign Law& Making Body) कहा जा सकता है किन्तु भारतीय संसद उस अर्थ में सर्वोच्च और सम्प्रभुता सम्पन्न संस्था नहीं है जिस अर्थ में ब्रिटिष संसद।

न्यायिक पुनर्विलोकन :– जब राज्य सरकार या केन्द्र सरकार (संसद) द्वारा बनाया गया कोई भी कानून संविधान के अनुसार बनाया गया हो तो न्यायपालिका उस कानून को अवैध घोषित कर सकती है। न्यायालय के इस अधिकार को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते हैं।

3.3.12. संदर्भ ग्रंथ सूची

- भारत का संविधान : डा. जयनारायण पाण्डेय
- भारत का संविधान (एक परिचय) : बृजकिषोर शर्मा
- भारतीय संविधान तथा नागरिक जीवन : डा. पुखराज जैन
- भारतीय प्रषासन : डा. बी. एल. फाडिया

3.3.13. बोध प्रष्न

- भारतीय संसद की संवैधानिक स्थिति का वर्णन कीजिये।
- भारत की संसद की प्रमुख शक्तियों एवं कार्यों को विस्तार से समझाइये।
- लोक सभा अध्यक्ष पर एक निबन्ध लिखिये।
- भारतीय लोक सभा अध्यक्ष की अपने समकक्षीय अमेरिकन और ब्रिटिष अध्यक्षों से तुलना कीजिये।

इकाई–4 सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, न्यायिक पुनरावलोकन न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक सुधार

इकाई की रूपरेखा

3.4.0. उद्देष्य
3.4.1. प्रस्तावना
3.4.2. सर्वोच्च न्यायालय का गठन एवं संरचना
    3.4.2.1. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष की नियुक्ति एवं योग्यताएं,
    3.4.2.2. सर्वोच्च न्यायायल के न्यायाधीष की योग्यताएं
    3.4.2.3. कार्यकाल तथा महाभियोग
    3.4.2.4. वेतन, भत्ते, सेवा शर्ते
    3.4.2.5. उन्मुक्तिया
3.4.3. सर्वोच्च न्यायालय की आवष्यकता क्यो
3.4.4. लोकतांत्रिक शासन
3.4.5. सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार
3.4.6. उच्च न्यायालय
    3.4.6.1. उच्च न्यायालय का संगठन
    3.4.6.2. न्यायाधीषों की योग्यताएं,
    3.4.6.3. न्यायाधीषों के वेतन और भत्ते
    3.4.6.4. न्यायाधीषों का कार्यकाल
    3.4.6.5. न्यायाधीषों का स्थानान्तरण
    3.4.6.6. न्यायाधीषां पर प्रतिबन्ध
3.4.7. आचार संहिता
3.4.8. उच्च न्यायालय की शक्तियॉ तथा अधिकार क्षेत्र
    3.4.8.1. न्याय सम्बन्धित
    3.4.8.2. प्रषासनिक सम्बन्धित
3.4.9. न्यायिक सुधार का अर्थ
3.4.10. भारत के सन्दर्भ में न्यायिक सुधार
3.4.11. न्यायिक सक्रियता का अर्थ
3.4.12. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कुछ क्षेत्रों में न्यायिक सक्रियतावाद का प्रयोग
    3.4.13. न्यायिक सक्रियता का नया उभरता दौर
    3.4.14. भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन
    3.4.15. न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा
    3.4.16. भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति और सीमाएं
    3.4.17. न्यायिक पुनरावलोकन का महत्व
    3.4.18. न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच सम्बन्ध
3.4.19. सारांष
3.4.20. शब्दावली
3.4.21. दीर्ध उत्तरीय प्रष्न
3.4.22. लघु उत्तरीय प्रष्न
3.4.23. बहु विकल्पीय प्रष्न

3.4.24. संदर्भ सूची

3.4.0. उद्देष्य

इस इकाई के अध्ययन के पष्चात आप सर्वोच्च न्यायालय का संगठन, क्षेत्राधिकार और उसकी आवष्यकता को समझ सकेंगे।

- उच्च न्यायालय का संगठन, शक्तियॉ और कार्य क्षेत्र को समझ सकेंगे।
- न्यायिक पुनवरावलोकन के विषय में विवेचना कर सकेंगे।
- न्यायिक सक्रियता को परिभाषित कर सकेगे।
- न्यायिक सुधार के रूप में न्याय व्यवस्था को समझ सकेगे।

3.4.1. प्रस्तावना

साधारणतया संघ राज्यों में न्यायपालिका का दोहरा ढॉचा होता है। किन्तु भारत एक संघ राज्य होते हुए भी इसमें इकहरी न्यायपालिका को अपनाया गया है। न्यायपालिका के इस इकहरे ढॉचे के अन्तर्गत सर्वोच्च स्तर पर सर्वोच्च न्यायलय स्थित है, इस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन राज्येां के उच्च न्यायालय है। सर्वोच्च न्यायालय भारत का शीर्ष न्यायिक प्राधिकरण है। जिसे भारतीय संविधान के भाग 5 अध्याय 4 के तहत स्थापित किया गया है। भारतीय संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायलय की भूमिका संघीय न्यायालय और भारतीय संविधान के संरक्षक की है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 से 147 तक में वर्णित नियम सर्वोच्च न्यायालय की संरचना और अधिकार क्षेत्रों की नींव है।

सर्वोच्च न्यायालय सबसे उच्च अपीलीय अदालत है जो राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेषों के उच्च न्यायालयों के फैसलों के खिलाफ अपील सुनता है, इसके अतिरिक्त न्यायालय द्वारा कानूनों तथा प्रषासनिक नीतियों की संवैधानिकता की जॉच तथा ऐसे कानूनों एवं नीतियेां को असंवैधानिक घोषित करना जो संविधान के किसी अनुच्छेद का अतिक्रमण करती है। न्यायालय की इस शक्ति को न्यायिक पुनर्विलोकन कहते है। न्यायिक पुनर्विलोकन की उत्पत्ति संयुक्त राज्य अमेरिका से मानी जाती है। न्यायिक पुनर्विलोकन के साथ न्यायिक सक्रियता में भी न्यायालय की सक्रिया भूमिका रहती ळें

उच्च न्यायालय राज्य का प्रमुख न्यायालय होता है। संविधान के अनुसार एक ही उच्च न्यायाल का अधिकार क्षेत्र दो या दो से अधिक राज्यों या संघीय क्षेत्रों तक विस्तृत हो सकता है।

3.4.2. सर्वोच्च न्यायालय का गठन एव संरचना – 28 जनवरी 1950 , भारत के एक सम्प्रभू लोकतान्त्रिक गणराज्य बनने के दो दिन बाद भारत का सर्वोच्च न्यायालय अस्तित्व में आया।

भारत के संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के लिए मूल रूप से दी गयी व्यवस्था में एक मुख्य न्यायाधीध तथा सात अन्य न्यायाधीषों को अधिनियमित किया गया था और इस संख्या को बढ़ाने का जिम्मा संसद पर छोड़ा गया था। परिस्थिति के अनुसार समय–समय पर संसद के द्वारा न्यायाधीषों की संख्या में वृद्धि की गयी है। 1956 में आठ से बढ़ाकर ग्यारह, 1960 में चौदह (14), 1978 में अठारह, 1986 में छब्बीस और 2008 में इक्तीस (31) तक कर दिया गया।

संवैधानिक मामले और ऐसे मामले जिनमें विधि के मौलिक प्रष्नों की व्याख्या देनी हो की सुनवाई पांच या इससे अधिक न्यायाधीषों की पीठ (जिसे संवैधानिक पीठ का जाता है) द्वारा की जाती है।

3.4.2.1. सर्वोच्च न्यायालय के न्याधीष की नियुक्ति :– संविधान में 30 न्यायाधीष तथा एक (1) मुख्य न्यायाधीष की नियुक्ति का प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद 124 में प्रावधान है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष के अतिरिक्त इस न्यायालय के अन्य न्यायाधीषों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीषों की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीष से परामर्ष अवष्य ही लेगा।

Collegium System . कॉलेजियम प्रणाली का भारत के संविधान में कोई जिक्र नहीं है। यह व्यवस्था 28 अक्टूबर 1998 का 3 जजों के मामले में आये सुप्रीय कोटै के फैसले के ज़रिये प्रभाव में आयी थी। कॉलेजियम सिस्टम में सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीष और सुप्रीम कोर्ट के 4 वरिष्ठ जजों का एक फोरम जजों की नियुक्ति और तबादले की सिफ़ारिष करता हैं। उच्च न्यायालय के जजों की पदोन्नत का फैसला भी कॉलेजियम की करता है।

सरकार ने 15 अगस्त 2014 को कॉलेजियम व्यवस्था की जगह राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का गठन किया था लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने 16 अक्टूबर सरकार को राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयेाग;छश्र।ब्द्ध कानून को असंवैधानिक करार दे दिया था। इस प्रकार वर्तमान में जजों की नियुक्ति और स्थानानतरण का निर्णय कॉलेजियम सिस्टम द्वारा ही किया जाता है। कॉलेजियम की सिफारिष मानना सरकार के लिए ज़रूरी होता है।

3.4.2.2. न्यायाधीषों की योग्यताए :– सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीषों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवष्यक हैः

1. वह भारत का नागरिक हो
2. वह किस उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में लगातार कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीष के रूप में कार्य कर चुका हो।

   या
3. किसी उच्च न्यायालय अथवा न्यायालयों में लगातार, 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

   या

4.राष्ट्रपति के विचार में एक पारंगत विधिवेत्ता हो।

यह अन्तिम उपबन्ध वस्तुतः नियुक्ति के क्षेत्र को व्यापक करने के लिए रखा गया है। इस उपबन्ध के अनुसार किसी विष्व विद्यालय में पढ़ाने वाला कोई विख्यात न्यायशास्त्री सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीष के पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

3.4.2.3. कार्यकाल तथा महाभियोग :– सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीष की सेवानिवृत्ति की आयु 65 वर्ष है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भाति भारतीय संविधान में आजीवन कार्यकाल की व्यवस्था नही की गयी है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 128 में किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीष की नियुक्ति करने की भी विषेष व्यवस्था की गयी है। इस अवस्था में पूर्व वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीष को

उसके पद से केवल प्रमाणित दुर्व्यवहार का अक्षता के आधार पर ही हटाया जा सकता है। इस प्रकार के महाभियोग की कार्यविधि निषचित करने का अधिकार संसद को प्राप्त है।

3.4.2.4. वेतन भत्ता और सेवा शर्ते – सर्वोच्च न्यायालय के न्ययाधीषों को ऐसे वेतन दिए जाएगें जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करें। उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीष सेवा शर्त संषोधन विधेयक (1998) के वतेन में आवष्यक सुधार किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष के लिए 33 हजार रू. मासिक तथा अन्य न्यायाधीषें के लिए 30 हजार रू. मासिक वेतन निर्धारित किया गया है। न्यायाधीषें को यह वेतन 1 जनवरी 1996 से देय है।

इन न्यायाधीषों को मासिक भत्ता यात्रा भत्ता, निवास सुविधा स्टाफ कार सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं।

सेवानिवृत्ति के बाद न्यायाधीषों को पेंषन भी प्राप्त होती है। मुख्य न्यायाधीष को 60 हजार रूपये वार्षिक व अन्य न्यायाधीषों के लिए 54 हजार रूपये वार्षिक है। पेंषन के साथ सेवानिवृत्ति वेतन (ग्रेचयुइटी) भी प्राप्त है जो 30 हजार से बढ़ाकर 50 हजार रूपये कर दी गई है। इन्हे ये वेतन भत्ते सरकार की संचित निधि से दिये जाते है।

3.4.2.5. उन्मुक्तियाः - न्यायाधीषों को अपने सभी कार्यों और निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है। किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीष की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीषें पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हित वष एक विषेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीषों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता हे। न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह अपना सम्मान बनाये रखने और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपनी रक्षा करने के लिए किसी भी तथाकथित आपराधी के विरूद्ध न्ययालय के अवमान की कार्यवाही कर सके।

3.4.3. सर्वोच्च न्यायालय की आवष्यकता क्यों?

3.4.4. लोकतांत्रिक शासन– व्यवस्था की दृष्टि से हमारे देष में सर्वोच्च न्यायालय की आवष्यकता निम्न कारणों से महसूस की गयीः

1. संघात्मक शासन व्यवस्था के कारण
2. संविधान की व्याख्या का कार्य
3. शासन का सन्तुलन का चक्र
4. विषिष्ट परामर्ष देने के लिए
5. सामाजिक क्रान्ति का अग्रदूत

3.4.5. सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार– भारत के सर्वोच्च न्यायालय की काफी व्यापक क्षेत्राधिाकर प्राप्त है, यहा तक कि विष्व के अन्य किसी भी न्यायालय का क्षेत्राधिकार शायद ही इतना व्यापक हो। इसके क्षेत्राधिकार का अध्ययन निम्नलिखित तीन रूपों में किया जा सकता है?

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (131)
(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार (132)
(3) परामर्षीय क्षेत्राधिकार (143)

(4) अभिलेख न्यायालय (129)
(5) मौलिक अधिकारो का अभिरक्षक (32)

(1) **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार :–** में दो प्रकार के क्षेत्राधिकार सम्मिलित है–

- प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार
- समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
- **प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार**

अनुच्छेद 131 संघ तथा राज्यों या राज्यों के बीच न्याय–योग्य विवादों के निर्णय का प्रारम्भिक तथा एकमेव क्षेत्राधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौपता है। सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैः–

1. भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
2. भारत सरकार, राज्य या कई राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद।

दो या दो से अधिक राज्यों के बीच विवाद जिसमें कोई ऐसा प्रष्न अन्तर्निहित हो जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व सम्बन्ध में निर्णय याचना की जानी चाहिए।

उपर्युक्त प्रकार के विवाद केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही उपस्थित किये जा सकते है।

- **समवर्ती प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार** – संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ–साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिाकर प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 32 (1) द्वारा विषेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया गया हैं कि वह मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करे इस प्रकार मौलिक अधिकारों को लागू करन के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय किसी के द्वारा आवष्यक कार्यवाही की जा सकती है।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार :– सर्वोच्च न्यायालय को राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध अपील सुनने का अधिाकर प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को चार भागों में विभाजित कया जा सकता है।

2.1. संवैधानिकः– संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई सारमय प्रष्न अन्तग्रस्ति है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती हैं यदि राज्य के उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण–पत्र देना अस्वीकार कर दिया है तो सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है यदि उसको यह विष्वास है कि उस विषय की संविधान की व्याख्या का कोई महत्वपूर्ण प्रष्न निहित है।

उदाहरण– निर्वाचन आयोग बनाम श्री वैंकटराव (1955) मुकदमें यह प्रष्न उठाया गया था कि क्या किसी संवैधानिक विषय में अनुच्छेद 132 के

अधीन किसी अकेले न्यायाधीष के निर्णय की अपील भी सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है अथवा नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने इसका उत्तर हां में दिया इसके फलस्वरूप यह न्यायालय संविधान का अन्तिम संरक्षक और व्याख्याकर्ता बन जाता है।

- **दीवानी**– इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी उसे 1972 में हुए संविधान के 30 वें संषोधन द्वारा परिवर्तित कर दिया गया है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही दीवानी विवादों की अपील की जा सकती थी, जिसमें विवाद–ग्रस्त राषि 20 हजार रूप्ये से अधिक हो। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में विधि आयेाग ने अपनी सिफारिष में कहा है कि दीवानी विवादों की सर्वोच्च न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में धनराषि की जो सीमा है, वह हटा दी जानी चाहिए। इस सिफारिष के अनुसार 30वां संवैधानिक संषोधन किया गया जिसके द्वारा अनुच्छेद 133 को संषोधित करते हुए अब धनराषि की सीमा हटा दी गयी है और यह निष्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रष्न अन्तर्ग्रस्त है। 30 वें संषोधन द्वारा की गयी यह व्यवस्था निष्चित रू‍प से अधिक उचित और तर्क पूर्ण हैं।
- **फौजदारी** – संविधान सभा में श्री पी. के. सेन और अन्य कुछ सदस्यों ने सुझाव दिया था कि ''मृत्युदण्ड के सभी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील का अधिकार निहित होना चाहिए।'' लेकिन श्री. के. एम. मुन्षी और अन्य सदस्यों ने यह तर्क दिया कि इससे सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभारत बहुत अधिक बढ़ जायेगा और इंग्लैण्ड आदि देषें में भी इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था श्री मुन्षी के विचार के अनुरूप ही है।

फौजदारी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय को अपील निम्न विषयों में सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती हैः

(अ) यदि उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की उन्मुक्ति का आदेष रद्द कर उसे मृत्युदण्ड दे दिया हो।

(ब) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से अभियोग विचारार्थ अपने पास मंगवाकर अभियुक्त को प्राणदण्ड दिया हो।

(स) अगर उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विचार के योग्य है तो अपील की जा सकती है।

- **विषिष्ट** – यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की व्यवस्था की गयी है। लेकिन फिर भी कुछ मामले ऐसे हो सकते है, जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते, लेकिन जिसमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवष्यक हो सकता है। अतः अनुच्छेद 136 द्वारा साधारण

कानून से भिन्न अपील सम्बन्धी विषिष्ट अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को सौंपा गया है इस अनुच्छेद के अनुसार, ''इस अध्याय के किसी भी उपबन्ध के होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण द्वारा किये गये किसी भी निर्णय आज्ञप्ति निर्धारण, दण्ड या आदेष करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकमात्र अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।'' सर्वोच्च न्यायालय को यह जो विषिष्ट अपीलीय शक्ति प्रदान की गयी है। उसके द्वारा उसका प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है। 39वें संवैधानिक संषोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि –

3.4.5.राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, लोक सभा अध्यक्ष और प्रधानमंत्री– इन चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव को उच्च न्यायालय में या सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। 44वें संवैधानिक संषोधन (1978) द्वारा 39 वें संवैधानिक संषोधन (1975) को रद्द कर दिया गया है और अब सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय उपर्युक्त चार उच्च पदाधिकारियों के चुनाव विवादों को उसी प्राकर से सुनवाई कर सकते है जिस प्रकार से उसके द्वारा यह कार्य 42वें संवैधानिक संषोधन से पूर्व किया जाता था।

अपीलीय क्षेत्राधिकार के दृष्टिकोण से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विष्व में सबसे अधिक शक्तिषाली है।

(3) परामर्षीय क्षेत्राधिकार - 143 के अनुसार यदि कभी राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रष्न पैदा हुआ है जो सार्वजनिक महत्व का है तो वह उक्त प्रष्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्ष मांग सकता है। इस न्यायालय पर संवैधानिक दृष्टि से ऐसी कोई बाध्याता नहीं है। कि उसे परामर्ष देना ही पड़ेगा।

सर्वोच्च न्यायालय का परामर्ष सम्बन्धी क्षेत्राधिकार मुकदमेबाजी को रोकने और उसे काफी सीमा तक कम करने में सहायक होता है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सर्वोच्च न्यायालयों द्वारा सलाहकारी भूमिका अदा करना पसंद नहीं किया गया है। इस समबन्ध में भारत की व्यवस्था ब्रिटेन कनाडा और वर्मा के अनुरूप है।

(4) अभिलेख न्यायालय - 129 सर्वोच्च न्ययालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आषय हैः–

1. इस न्यायालय के अभिलेख सब जगह साक्षी के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और उन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।
2. इन न्यायालय के द्वारा न्यायालय अवमान (Contempt of Court) के लिए दण्ड दिया जा सकता है। वैसे तो यह बात प्रथम स्थिति में स्वतः ही मान्य हो जाती है, लेकिन भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को उसका अवमान करने वालों की यह दण्ड देने की व्यवस्था विषिष्ट रूप से कर दी गयी है।

   डॉ अम्बेडकर के शब्दों में, '' अभिलेख न्यायालय वह न्यायालय होता है जिसके अभिलेखों का साक्ष्य की दृष्टि से मूल्य हो और जब उन्हें

किसी न्यायालय से पेष किया जाए तो उन पर कोई संदेह या ऐतराज न किया जा सके। सच तो यह है कि अवमान के लिए दण्ड दे सकने की शकित तो इन स्थिति का एक आवष्यक परिणाम हैं।''

(5) मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक - अनुच्छेद 32 (1) सर्वोच्च न्यायालय को विषेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है। कि वह ''मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करें।'' न्यायालय मौलिक अधिकारेां की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेष, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण होने पर वह सर्वोच्च न्यायालय की षरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारेां की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है तथा इस कार्य में यह सफल भी रहा है।

मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। कुछ महत्वपूर्ण निर्णय इस प्रकार हैं– ''रमेष थापर बनाम मद्रास राज्य'' विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 32 उन्हें मौलिक अधिकारों के संरक्षक की स्थिति प्रदान करता है।

'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड 14 को अवैध माना और ब्रजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया और कहा कि सामान्य शान्तिकालीन स्थिति में प्रेस को नियमित करना अनुचित है। गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के विवाद में तो सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को सीमित या संषोधित नहीं किया जा सकता। इस श्रेणी के कुछ अन्य महत्वपूर्ण निर्णय हैं। बम्बई राज्य बनाम बम्बई षिक्षा समाज रषीद अहमद बनाम केन्द्रीय सरकार, षिब्बन लाल बनाम उत्तर प्रदेष राज्य आदि।

इस सबके अतिरिक्त सर्वोचच न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति या संविधान के संरक्षण की शक्ति प्राप्त है।

3.4.6. उच्च न्यायालय :– भारत में न्यायापालिका के इकहरे ढॉचे के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय स्थित है। इस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालयों के अधीन जिलों के न्यायालय तथा छोटे दीवानी और फौजदारी न्यायालय है। भारत में कुल 24 उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय भारतीय संविधान के अनुच्छेद 214 अध्याय 5 भाग 6 के अन्तर्गत स्थापित किया है।

3.4.6.1. उच्च न्यायालयों का संगठन :– प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रमुख न्यायाधीष व कुछ अन्य न्यायाधीष होंगे जिनकी संख्या निष्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। मुख्य न्यायाधीष की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीष और उस राज्य के राज्यपाल के परामर्ष से करेगे तथा अन्य न्यायाधीषों की नियुक्ति में सम्बन्धित राज्य के मुख्य न्याषधीष का परामर्ष भी लेना होगा। भारत के मुख्य न्याषधीष उच्च न्यायालयों में न्यायाधीषों की नियुक्ति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीष के समूह की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही राष्ट्रपति को परामर्ष देगें।

3.4.6.2. न्यायाधीषों की योग्यताएं :– उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों का पद प्राप्त करने के लिए निमन योग्यताएं आवष्यक हैः–

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह कम से कम दस वर्ष तक भारत के कसी क्षेत्र में न्याय सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो अथवा एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

3.4.6.3. न्यायाधीषों के वेतन और भत्ते :– संविधान के अनुच्छेद 221 के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करें। ये वेतन और भत्ते 'राज्य की संचित निधि' से दिये जाते है और न्यायाधीषों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन तथा भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

3.4.6.4. न्यायाधीषों का कार्यकाल :– उच्च न्यायालय के न्यायाधीषें का कार्यकाल 62 वर्ष की आयु तक निष्चित किया गया है पर इससे पूर्व यह स्वयं पद त्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि संसद के दोनों सदन अलग–अलग अपनी समस्त संख्या के बहुमत से किसी न्यायाधीष को अयोग्य या दुराचारी प्रमाणित करे और प्रस्ताव राष्ट्रपति के सम्मुख रखें, तो राष्ट्रपति के आदेष से उसे अपना पद त्याग देना होना। संसद द्वारा यह प्रस्ताव एक ही अधिवेषन में रखा जाना चाहिए।

3.4.6.5. न्यायाधीषों का स्थानान्तरण :– राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीष का किसी अन्य उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण कर सकता है।

उच्च न्याययल के न्यायाधीषें के स्थानान्तरण के सम्बन्ध के केन्द्र सरकार द्वारा या न्यायिक क्षेत्र में सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके इस दृष्टि से अक्टूबर 1998 में घोषित निर्णय में व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीष से प्राप्त परामर्ष के आधार पर कार्य करेगे, लेकिन मुख्य न्यायाधीष स्व्यं सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीष के समूह की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्ष देगें।

3.4.6.6. न्यायाधीषें पर प्रतिबन्ध : संविधान के अनुच्छेद 220 के अनुसर उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीष पद पर निवृत्ति के बाद उसी उच्च न्यायालय में या उस उच्च न्यायालय के किसी अधीनस्थ न्यायालय में वकालत नहीं कर सकता है। वह अन्य उच्च न्यायालयों या सर्वोच्च न्यायल में वकालत अवष्य ही कर सकता है।

3.4.7. आचरण संहिता - पिछले लगलग 15 वर्षों से यह विचार बल पकड रहा है कि उच्च न्यायालय के कुछ न्यायाधीषों और सर्वोच्च न्यायालय के किसी–किसी न्यायाधीष के आचरण में कुछ कमियां रही है। अतः सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीष एम. एन. वेंकटचलैया सहित अनेक पक्षेां द्वारा समय–समय पर यह सोचा जाता रहा है कि सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के लिए एक आचरण संहिता तैयार ही जानी चाहिए। इस प्रसंग में मूल विचार यह है कि न्यायाधीषों की नियुक्ति, स्थानान्तरण और कार्यकरण आदि के सम्बन्ध में समस्त व्यवस्था और स्वयं न्यायाधीषों का आचरण ऐसा होना चाहिए कि न्यायाधीषें की निष्पक्षता पर कोई संदेह ही नहीं किया जा सके। आचार संहित की दिषा में एक

प्रयत्न दिसम्बर 1999 में न्यायिक जीवन के मूल्यों के पुनर्कथन के रूप में किया गया है। स्व्यं न्यायपालिका ने अपने लिए 15 सूत्रीय आचार संहिता घोषित की है। सही दिषा में यात्रा का प्रारम्भिक प्रत्यन है यह, आषा की जा सकती है कि अच्छे परिणाम सामने आयेगे।

3.4.8. उच्च न्यायालय की शक्तियॉ तथा अधिकार क्षेत्र :– भारतीय संघ के प्रत्येक उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्तियां प्राप्त हैः

3.4.8.1. न्याय सम्बन्धित

इसके अतिरिक्त उच्च न्यायलय 'अभिलेख न्यायालय' के रूप में भी कार्य करता है। उच्च न्यायालय के न्याय समबन्धी क्षेत्र को और आगे दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र तथा
2. अपीलीय अधिकार क्षेत्र।

1. **प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र –** मूल अधिकारों के रक्षण से सम्बन्धित विवाद प्रारम्भ में ही उच्च न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते है। क्योंकि उनकी सुनवाई का अधिकार राज्य के अन्य किसी न्यायालय को प्राप्त नहीं है। मूल अधिकारों की रक्षा हेतु उच्च न्यायालय के द्वारा विभिन्न प्रकार के लेख जारी किये जा सके हैं ये लेख है–

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण
2. परमादेष
3. प्रतिसंघ
4. अधिकार पृच्छा
5. उत्प्रेषण

इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को वसीयत, विवाह विच्छेद, विवाह विधि, कम्पनी कानून तथा उच्च न्यायालय का अपमान इत्यादि से सम्बन्धित मुकदमे सुनने का अधिकार है।

भारत संघ के उच्च न्यायालयों में कोलकाता, मुर्ब्ई और चन्नई उच्च न्यायालयों को अन्य उच्च न्यायालयों की अपेक्षा अधिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त है।

(2) **अपीलीय क्षेत्राधिकार :–** उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों की अपीलें सुनता है, जिसमें दीवानी, फौजदारी और राजस्व समबन्धी सभी प्रकार के अभियेाग सम्मिलित है। फौजदारी मुकदमों में सत्र न्यायालय द्वारा दिये गये मृत्युदण्ड के आदेष पर उच्च न्याालय की पुष्टि आवष्यक है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के ही एक न्यायाधीष के निर्णय के विरूद्ध पूरे उच्च न्यायालय में पुनः अपील की जा सकती। संविधान लागू होने के समय उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी मुकदमों की अपील सुनने का अधिकार नहीं था, परन्तु अब उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी सभी प्रकार के मुकदमों की भी अपील सुनने का अधिाकर प्राप्त है। ये अपीलें राजस्व मण्डल के निर्णयों के विरूद्ध होती हैं।

(3) **लेखा जारी करने का अधिकार :–** मूल संविधान के अनुच्छेद 226 के द्वारा उच्च न्यायालयों को मूल अधिकारों को लागू करने तथा अन्य उद्देष्यों की पूर्ति के लिए लेखा, आदेष तथा निर्देष जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है। मूल अधिकारों की रक्षा के लिए लोकहित में अन्य व्यकित के द्वारा लोकहित याचका

प्रस्तुत की जा सकती है और उच्च न्यायालय इस याचिकाओं पर विचार का निर्देष और निर्णय देता है।

(4) **न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति :–** न्यायिक पुनर्विलोकन का अर्थ है संविधान में संषोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून की संविधान के आधार पर जांच और संविधान के विरूद्ध पाये जाने पर उन्हें अवैध घोषित करना। संविधान के द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की यह शक्ति प्रदान की गयी है और उच्च न्यायालयें कों अधिकार है कि वह किसी भी ऐसे संवैधानिक संषोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून को अवैधानिक घोषित कर दें जो सवंधिान के प्रावधानों के विपरीत हो। न्यायिक पुनर्विलोकन उच्च न्यायलय का बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्य और शक्ति है।

(5) **उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायलय के रूप में:–** उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय में है जिसका तात्पर्य यह है कि इसकी कार्यवाही तथा निर्णय प्रकाषित किये जाते है और साक्षी के रूप में अधीनस्थ न्यायालयों में मान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इसे अपने अपमान के लिए दण्ड देने का भी अधिकार प्राप्त है।

3.4.8.2. प्रषासनिक सम्बन्धित :– उच्च न्यायालय न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त अपने राज्य की समस्त न्यायिक व्यवस्था पर निम्न प्रकार से नियन्त्रण रखता है:

(1) उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों और नयायाधिकरणों (Tribubals) पर निगरानी रखता है। अपने निरीक्षण के अधिकार के अन्तर्गत वे अपने अधीन न्यायालयों से किसी भी मुकदमें से सम्बन्धित कागजात मंगवाकर देख सकते हैं।

(2) यदि अधीन न्यायालय में कोई ऐसा अभियोग चल रहा है, जिसमें भारतीय संविधान की व्याख्या का प्रष्न निहित है, तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमें को अपने पास मंगा सकता है।

(3) उच्च न्यायालय मुकदमें को एक अधीन न्यायालय से दूसरे अधीन न्यायालय में भेज सकता है।

(4) अधीन न्यायालयों की कार्य–पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब इत्यादि रखने के सम्बन्ध में भी उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

(5) यह अधीन न्यायालयों के शेरीफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि के वेतन, सेवा शर्ते और फीस निष्चित कर सकता है।

(6) यह जिला न्यायलय तथा इससे छोटे न्यायालय के अधिकारयों की नियुक्ति पदोन्नति, पदावनति और छुट्टी इत्यादि के सम्बनध में नियम बना सकता है।

(7) उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पास होती है।

सर्वोच्च न्यायालय के समान ही उच्च न्यायालयों ने भी 1993 से 2005 के वर्षों में जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर भारतीय राज्य व्यवस्था में अपनी भूमिकों को पहले से अधिक प्रभावशाली बन लिया है।

3.4.9. न्यायिक सुधार:–

न्यायिक सुधार से आषय किसी देष की न्यायपालिका का राजनीतिक ढंग से पूर्णतः या आंषिक परिवर्तन करना है। न्यायिक सुधार, विधिक सुधार का एक हिस्सा है विधिक सुधार में न्यायिक सुधार के साथ–साथ कानूनी ढांचे में परिवर्तन कानूनों में सुधार, कानूनी षिक्षा में सुधार, जनता में विधिक जागरूकता लाना,

न्यायिक सुधार का लक्ष्य न्यायालयों में सुधार, वकालत में परिवर्तन, दस्तावेजों का रखरखाव आदि सम्मिलित हैं।

न्यायिक संस्था और विधि का शासन आधुनिक सभ्यता और लोकतांत्रिक शासन की आवष्यकता है। यह महत्वपूर्ण है कि न्याय प्रदान करने के प्रभावी तंत्र को सुनिष्चित करने के जरिए न्याय तंत्र और विधि के शासन में लोगों की आस्था न सिर्फ परिरक्षित है बल्कि उसे बढ़ाने के साथ साथ उसे हासिल करने का यह सरल रास्ता भी है।

3.4.10. भारत के सन्दर्भ में न्यायिक सुधार

दषकों से भारतीय न्यायतंत्र में सुधारों की आवष्यकता महसूस की जा रही है क्योंकि सस्ता एवं शीघ्र न्याय कुल मिलाकर भ्रामक रहा हे। अदालतों में लम्बित मामलों को जल्दी निपटाने के उपायों के बावजूद 2 करोड 50 लाख मामले लंबित है। विषेषज्ञों ने आषंका प्रकट की है कि न्याय तंत्र में जनता का भरोसाा कम हो रहा है। और विवादों को निपटानें के लिए अराजकता एवं हिंसक अपराध की शरण में जाने की प्रवृत्ति को रोकने और इसके रूख को पलटने के लिए न्यायतंत्र में लोगों को भरोसा तुरन्त बहाल करना चाहिए।

पिछले पांच दष्कों से भारतीय विधि आयोग, संसदीय स्थायी समितियों और अन्य सरकार द्वारा नियुक्त समितियों, सर्वोच्च न्यायालय की अनेक पीठ, प्रतिष्ठित वकील और न्यायाधीष विभिन्न कानूनी संघ संगठन और गैर सरकारी संगठनों जैसे विभिन्न कानूनी स्थापित सरकारी प्राधिकरणों ने न्याय तंत्र में समस्याओं की पहचान की है और उनकों जल्दी दूर करने का आह्वान किया है। फिर भी ऐसी अनेक सिफारिषों का प्रभावी कार्यान्वयन अब भी लंबित है। गृह मंत्रालय की संसदीय स्थायी समिति के अनुसार (2001) विधि आयोगों की प्रायः 50 वी रिपोर्ट कार्यान्वयन की प्रतीक्षा में है।

न्यायिक सुधारों का कार्यान्वयन नहीं हाने के कारणेां में से एक के रूप में न्याय तंत्र को कम बजटीय सहायता का भी उल्लेख किया जाता रहा है। 10वीं पंजवर्षीय (2002–07) योजना के दौरान न्याय तंत्र के लिए 700 करोड़ रूप्ये आवंटित किए गऐ थे जो कुल योजना व्यय 8,93,183 करोड़ रूप्ये का 0.078% था। नवीं पंचवषीय योजना के दौरान तो आवंटन और कम था जो सिर्फ 0.071% था। यह माना गया कि इतना अल्प आवंटन न्याय तंत्र की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी अपर्याप्त है। यह कहा जाता है कि भारत अपने सकल घरेलू उत्पाद का सिर्फ 0.2% ही न्याय तंत्र पर खर्च करता है। परन्तु संसधानों का अभाव ज्यादातर नागरिकों, खासतौतर पर उन वंचित तबको, को न्याय या किसी अन्य मूल अधिकार से इंकार करने का कारण नहीं हो सकता जिनकी अस्पष्ट कानूनों और प्रभावी बाधा के रू‍प में काय्र करने वाली उच्च लागत के कारण न्याय तक सीमित पहुॅच है। न्याय में देरी न्याय देने से इंकार है इस बात को मानतु हुए सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानक पीठ ने पी. रामचन्द्र राव बनाम कनार्टक (2002) मामले में हुसैन आरा मामले की इस बात को दोहराया कि, शीघ्र न्याय प्रदान करना अपराधिक मामलों में तो और भी अधिक शीघ्र, राज्य का संवैधानिक दायित्व है। तथा संविधान की प्रस्तावना और अनुच्छेद 21, 19 एवं 14 तथा राज्य के निर्देषक सिद्धान्तों से भी निर्गमित न्याय के अधिकार से इंकार करने के लिए धन या संसाधनों का अभाव कोई सफाई नहीं है। यह समय की मांग है कि भारतीय संघ

और विभिन्न राज्य अपने संवैधानिक दायित्वों को समझे और न्याय प्रदान करने के तंत्र को मजबूत बनाने की दिषा में कुछ ठोस कार्य करें।

हलांकि, हाल में वर्षों में अदालतों की कार्यप्रणाली में सुधार लाने के लिए उपाय किए गये है। केन्द्र सरकार ने फरवरी 2007 में बेहतर प्रबन्धन के लिए न्याय प्रदान करने के तंत्र में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग के लिए देष की सभी जिला एवं अधीनस्थ अदालतों के कम्प्यूटरीकरण और सर्वोच्च न्यायालय एवं अन्य न्यायालयों के सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के बुनियादी ढॉचे को उन्नत करने के लिए योजना मंजूर की थी। 442 करोड़ रूपये की यह योजना दो वर्ष में पूरी की जानी थी। इस परियोजना के तहत अब तक न्यायिक अधिकारियों को 13,365 लेपटाप, करीब 12,600 न्यायिक अधिकरियेां को लेजर प्रिंटर उपलब्ध कराए जा चुके है।। तथा 11,000 न्यायिक अधिकारियेां एवं अदालतों के 44,000 कर्मियों को सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी उपकरण इस्तेमाल करने का प्रषिक्षण दिया जा चुका हैं इस परियोजना के तहत देष में सभी अदालते परिसरों में कम्प्यूटर कक्ष स्थापित किये जाने है। अदालतों के ई–समर्थ बनने से अधिक दक्षता से कार्य करने और मुकदमों का तेजी से निपटारा करने में मदद मिलेगी। इससे उच्च अदालतों के साथ इन अदालतों का नेटवर्क बनेगा तथा इस प्रकार अधिक जवाबदेही सुनिषचित होगी।

120 वे विधि आयोग की रिपोर्ट में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि भारत, दुनिया में आबादी एवं न्यायाधीषों के बीच सबसे कम अनुपात वाले देषों में से एक है। अमरीका और ब्रिटेन 10 लाख लोगों पर करीब 150 न्यायाधीष है। जबकि इसकी तुलना में भारत में 10 लाख लोगो पर सिर्फ 10 न्यायाधीष है। अखिल भारतीय न्यायाधीष संघ के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को न्यायाधीषों की संख्या 2007 तक चरणबद्ध ढंग से वृद्धि करने का निर्देष दिया था ताकि 10 लाख की आबादी पर 50 न्यायधीष हो जाए, जो अब तक पूरा नहीं किया गया है।

11वें वित्त आयोग की सिफारिष पर बनाई गई फास्ट ट्रेक अदालतें भी लंबित पडे मुकदमों को पिनटाने में प्रभावी सिद्ध हुए है। इसके मद्देनजर सरकार ने राज्यों को केन्द्रीय सहायता उपलब्ध करवा कर सत्र स्तर पर संचालित 1.562 फास्ट ट्रेक अदालतों की समय अवधि बड़ा दी है। केन्द्रीय विधि मंत्रालय के अनुसार इन अदालतों में 28 लाख 29 हाजर मुकदमें स्थानांतरिक किए गए थे जिनमें से 21 लाख 83 हजार का निपटारा हो चुका है।

नोट :– केन्द्र सरकार का ग्रामीण आबादी को उसके घर पर ही न्याय प्रदान करने के लिए ग्राम न्यायालय अधिनियम 2008 के तहत पंचायत स्तर पर 5 हजार से अधिक ग्राम न्यायालय स्थापित करेन का प्रस्ताव है। इन अदालतों में सरल एवं लचीली प्रक्रिया अपनाई जाएगी ताकि इन मुकदमों की सुनवाई और निपटारा 90 दिन के भीतर किया जा सके।

3.4.11. न्यायिक सक्रियताः–

न्यायिक सक्रियता का अर्थ न्यायपालिका द्वारा निभायी जाने वाली वह संक्रिया भूमिका है जिसमें राज्य के अंगों को उनके संवैधानिक कार्य करने को बाध्य करें। यदि वे अंग अपने कार्य संपादित करने में सफल रहे तो जनतंत्र तथा विधि शासन के लिए न्यायपालिका उनकी शक्तियों या भूमिका का निर्वाह सीमित समय

के लिए करेगी। यह सक्रियता जनतंत्र की शकित तथा जन विष्वाास को पुर्नस्थापित करती है।

किसी भी लोकतंत्र या कानून के शासन का मूल आधार स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं प्रभावी न्याय व्यवस्था होती है। ऐसी न्याय व्यवस्था अल्पव्ययी, सरल, बोधगम्य तथा शीघ्रगामी भी होनी चाहिए। विलम्बकारी न्याय व्यवस्था अन्यायकारी तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली होती है। दुर्भाग्य से भारत को ऐसी ही दोषूर्ण न्याय प्रणाली बिरासत में मिली है। बहुत चाहने पर भी स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माता इस व्यवस्था से छुटकारा नहीं पा सके। उन्होंने वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के रूप में स्वतंत्र निष्पक्ष और सक्षम न्याय व्यवस्था की स्थापना तो कर ली किन्तु उसका औपनिवेषिक अपना सामन्तषाही स्वरूप बना रहा। यह गरीब देष के अपनढ निवासियों की आवष्यकता के अनुसार सुबोध, सुगम तथा तत्काल न्यायप्रद न बन सकी। एक या दो क्षेत्रों को छोड़कर भारत के आजाद हो जोन के प्च्चात भी उसी व्यवस्था को जारी रहने दिया गया था न्यायपालिका का स्वरूप पहले की तरह निषेधात्मक अलगावपूर्ण गरीबों के लिए शोषणकारी तथा परदेषी बना रहा। इस वादी–प्रतिवादी व्यवस्था में न्यायाधीष ऊॅचे भाडे पर नियुक्त वकीलों के द्वारा जुटाये गये साक्ष्य के सहारे चलते हैं, चाहे उसका दुष्परिणाम कितना ही घातक क्यों न निकलता हो।

किन्तु पिछले दषक से सर्वोच्च न्यायालय ने सयम की मांग को पहचाना तथा भारतीय जनता की आवष्यकता को समझा है। उसने यह मान लिया है कि 'न्याय' या जस्टिस का स्वरूप केवल कानून न होकर सामाजिक एवं आर्थिक भी है। साथ ही यह भी माना है कि न्याय व्यवस्था को आम जनता की जीवन दषा को सुधारने तथा उसे मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने के लिए 'सक्रियः भागीदार बन जाना चाहिए। इस सक्रिय या क्रिया प्रधान दृष्टिकोण (Judicial Activisim) को अपनाने के कारण भारतीय न्याय व्यवस्था का स्वरूप बदलता जा रहा है। और वह निषेधात्मक के स्थान पर विधेयात्मक अथवा रचनात्मक बन गयी है। तथा गरीबों को इस न्याय व्यवस्था में भिखारी के बजाय सम्मान जनक भागीदार बनाया जाना चाहिए। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य दिया है।

3.4.12. सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कुछ क्षेत्रों में न्यायिक सक्रियतावाद का प्रयोग :–

सर्वोच्च न्यायालय ने कुछ क्षेत्रों में न्यायिक सक्रियता का प्रयोग किया है। जो इस प्रकार है

(1) जनहितकारी विवादो को मान्यता – उसने जनहितकारी विवादों को मान्यता दी है। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता है। जिसको उसके कानूनी या संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गरीब, अपंग अथवा सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से दलित लोगों के मामले में आम जनता का कोई आदमी न्यायालय के समक्ष वाद ला सकता हैं न्यायालय अपने सारे तकनीकी तथा कार्य–विधि सम्बन्धी नियमों की परवाह किये बिना उसे लिखित रूप से देने मात्र से ही कार्यवाही करेगा। ऐसे मामलों की शुरूआत संयुक्त राज्य अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने की थी। भारत में इसकी शुरूआत भागलपुर (बिहार) की जेल के विचाराधीन बन्दी रखे गये कैदियों से हुई। इसके विषय में पुलिस आयोग के सदस्य श्री के. एफ. रूस्तमणी ने एक लेख लिखा तथा एडवोकेट श्रीमाती

हिगोरानी ने अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत मामलों को सर्वोच्च न्ययालय में उठाया। बिहार की इन जेलों में सैकड़ो विचाराधीन कैदी किसी अदालती कार्यवाही के बिना ही वर्षों से सड़ रहे थे। इनकी ओर से न कोई जमानत देने वाला था और न कोई वकील था। अतएव जनहित में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि बिना कारण किसी का जेल में बन्दी न रखा जाय। यदि उस पर मुकदमा चलाने में 18 माह से अधिक समय लग रहा हो तो उसे जमानत पर छोड़ दिया जाय। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने गरीब और असहाय लोगों की ओर से जनहित में चालने वाले प्रत्येक व्यकित को मुकदमा लड़ने का अधिकार दे दिया है।

(2) अनुच्छे (धारा) 21 की नवीन व्याख्या :– इसके अन्तर्गत आम आदमी के जीवन और सुरक्षा को वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है। इन धारा में यह कहा गया है कि विधि द्वारा स्थापित कार्यविधि के अतिरिक्त किसी व्यकित को उसके जीवन तथा निजी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जायेगा। पहले यह माना जाता रहा है कि कार्यपालिका सरकार कोई न कोई कार्यविधि अपनाकर व्यक्ति की स्वतंत्रता या जीवन छीन सकती है, किन्तु मेनका गांधी के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि कार्यविधि भी विवके सम्मत, उत्तम या न्यायपूर्ण होनी चाहिए। सरकार की प्रत्येक कार्यवाही विवेकपूर्ण तरीके से सम्पन्न होनी चाहिए। संविधान के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों की प्रत्येक धारा में विवेकपूर्णता एक अनिवार्य शर्त है। इस तरह सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यविधि का विवेकसंगत, उत्तम तथा न्यायपूर्ण होना अनिवार्य बना दिया है।

(3) नागरिकों की प्रतिष्ठा की सुरक्षा को ध्यान में रखा :– इसके अन्तर्गत सुप्रीम कोर्ट ने नागरिकों की प्रतिष्ठा की सुरक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया है। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रत्येक व्यकित की इस अधिकारिता को स्वीकार किया हैं कि वह निर्धन, असमर्थ अथवा समाजिक–आर्थिक दृष्टि से पिछड़े, समूह या वर्ग के लिए न्यायालय के समक्ष वाद प्रस्तुत कर सकता है यह वाद राज्य सरकार सरकारी अधिकारी या प्राधिकरण के विरूद्ध लाया जा सकात है। बम्बई के पटरीवासियों या सुनील बत्रा के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 21 में जीवन का अर्थ केवल भौतिक अस्तित्व की सुरक्षा मात्र न होकर उन सभी नैसर्गिक शक्तियेां से है जिनके द्वारा जीवन का उपभोग किया जाता है तथा मनुष्य की आत्मा बाह्य जगत में संचरण करती है। उसमें मानव प्रतिष्ठा के साथ जीवन यापन के अधिकार को उक्त मौलिक अधिकार के अन्तर्गत शामिल किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्दयता क्रूरता मनुष्य को अमानवीय या पाषविक यातना या सजा देना आदि अब सम्भव नहीं है। यद्यपि भारतीय संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। किन्तु मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा के सन्दर्भ में तथा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन घोषित अधिकारों को मनाव प्रतिष्ठा के अन्तर्गत शामिल कर दिया गया है। आगरा होम, दिल्ली नारी निकेतन तथा एयरपोर्ट प्राधिकारण के मामलों में इसी दृष्टि बिन्दु को अपनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि अनुच्छेद 14 (का) समान कानूनी संरक्षण सबको स्वेच्छाचारिता के विरूद्ध गारण्टी देता हे। न्याय का अर्थ केवल 'कानूनी न्याय' न हाकर संविधान की प्रस्तावना में वर्णित सामाजिक–आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय है। इस तरह सामान्य नागरिकों का व्यापक न्याय दिलाने के विषय में न्यायपालिका राज्य की सहभागी बन रही है।

(4) कार्यपालिका के स्वविवेक पर नियन्त्रण : सर्वोच्च न्यायालय ने पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि कार्यपालिका के स्वविवेक पर नियन्त्रण किया जाना चाहिए। उसके लिए विवेक तथा अ–स्वेच्छाचारिता को आधार समझना चाहिए। 'राज्यः अथवा 'कार्यपालिका' का अर्थ प्रत्येक प्रकार की सार्वजनिक सत्ता है। कस्तूरीमल रेड्डी के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय का यह दृष्टिकोण रहा है कि राज्य के स्वविवेक का आधार संविधान के चतुर्थ अध्याय में वर्णित 'राज्य–नीति' का यह दृष्टिकोण रहा है कि राज्य के स्वविवेक के निदेषक सिद्धान्त होना चाहिए जिसमें 'सार्वजनिक हित' के मानदण्ड को प्रस्तुत कर दिया गया है।

अन्त में सर्वोच्च न्यायालय की यह मान्यता बन गयी है कि यद्यपि न्यायाधीष या न्यायालय का काम कानून बनाना या निर्माण करना नहीं है। लेकिन वह कानून की रूपरेखाओं में रंग अवष्य भरता है अथवा विधि की सूखी हड्डियों पर रक्त मांस आवष्यमेव चढ़ाता है। इस तरह वह कानून के निर्माण में भी भाग ले रहा है।

3.4.13. न्यायिक सक्रियता का नया उभरता दौर :

गणतन्त्र का सबसे पहला उद्देष्य या नागरिकों को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराना। किन्तु हमारे निर्वाचित प्रतिनिध और प्रषासक हम नागरिकों के हितों की रक्षा करने और हमें न्याय दिलाने के बजाय, अपने निजी स्वार्थों के पोषक, सत्ता के सौदागर, जनता के शोषक और जनहित के शत्रु बन बैठे। घोटाले पर घोटाले होते रहे, भ्रष्ट आचरणों को बढ़ावा मिलता रहा। जब जनता की सहनषीलता का बांध टूटता नजर आया और लोकतन्त्र का विनाष होने लगा, तब न्यायपालिका ने जनहित में, विधि और न्याय का शासन सुरक्षित करने के लिए अपने क्षेत्राधिकार में अधिक सक्रिय और प्रभावी भूमिका निभाने का बीड़ा उठाया।

ऐसी चार स्थितियां समझ में आती है जिनमें न्यायालय अपने निर्दिष्ट विषेष क्षेत्र का अतिक्रमण कर अन्य क्षेत्रों में– कार्यलपालिका अथवा विधायिका के क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगते हैं।

(1) जब सरकार या संसद अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने में असमर्थ और अक्षम सिद्ध हो तथा नागरिकों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा के लिए तथा विधि एवं संविधान के संरक्षण के लिए न्यायालय से याचना की जाए।

(2) जब सरकार इतनी अस्थिर और कमजोर हो कि कोई भी कठिनाई उपस्थित होने पर अथवा वर्ग विषेष को नाराज करने वाला कोई कठोर निर्णन न ले सकती हो।

(3) जिसमें सरकार स्वयं सक्षम होते हुए भी न्यायालय के माध्यम का उपयोग या दुरूपयोग करना चाहे।

जब न्यायालय स्वयं मानवीय अथवा संस्थागत नैसर्गिक दुर्बलताओं के अधीन अपने अधिकार क्षेत्र का विस्तार करना चाहते हो, जाने या अनजाने 1996–2000 की कालावधि न्यायपालिका की सक्रियता की दृष्टि से अभूतपूर्व कही जा सकती है। जनहित याचिकाओं के जरिए शीर्ष पर व्याप्त भ्रष्टाचार को निषाना बनाया जाने जगा। सर्वोच्च न्यायालय ने बहुत सी जनहित याचिकाओं को स्वीकार किया। जनहित याचिकाओं ने न्यायिक सक्रियता के जिस दौर की शुरूआत हुई है उससे पलड़ा न्यायपालका के पक्ष में झुका दिखाई देता हे। इसको लेकर कार्यपालिका और विधायिका में जबरदस्त हलचल मची। किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि तथाकथित

न्यायिक सक्रियता आज की विभिन्न समस्याओं का कोई स्थायी समाधान नहीं दे सकती। वह तो केवल घोर आपातकालीन दवाई का ही काम कर सकती है। अन्ततः कार्यपालिका और विधायिका को अपना–अपना काम ईमानदारी के साथ करना सीखना होना। न्यायपालिका न तो विधानपालिका का स्थान ले सकती है और नही कार्यपालिका का।

साथ ही आज की विषेष परिस्थतियों में न्यायिक अधिनायक वाद के हाने का भय दिखाना भी बेमानी है क्योंकि अन्ततः न्यायपालिका भी तभी तक सक्रिय रह सकती है और प्रभावी हो सकती है जब तक दूसरी दो संस्थाए उसका आदर करें और उसके आदेषों का पालन करें। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय के आदेषों को लागू करने के लिए भी तो प्रषासनिक मषीनरी का ही सहारा लेना पड़ेगा।

संक्षेप में न्यायिक सक्रियता के इस दौर में यह माना जाने लगा है कि अब सरकार को न्यायपालिका ही चला रही है।

3.4.14. भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन :-

न्यायिक पुनरावलोकन से तात्पर्य न्यायालय की उस शकित से है जिसे शक्ति के बल पर वह विधायिका द्वारा बनाये गये कानूनों, कार्यपालिका द्वारा जारी किये गये आदेषों तथा प्रषासन द्वारा दिये गये कार्यों की जांच करती है कि वह मूल ढ़ॉचे के अनुरूप है या नहीं। मूल ढॉचें के प्रतिकूल होने पर न्यायालय उसे अवैध घोषित करती है।

न्यायिक पुनरावलोकन की उत्पत्ति सामान्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका से मानी जाती है। 1803 में अमेरिका के मुख्य न्यायाधीष मार्षन ने मार्बरो बनाम मेडिसन नामक विख्यात वाद में प्रथम बार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की प्रस्थापना की थी।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन सिद्धान्त का स्पष्ट उललेख नहीं हुआ है परन्तु इसका आधार है अनु. 13 (2) अनु. 32, 226, 131 243 और न्यायाधीषों द्वारा संविधान के संरक्षण की शपथ।

3.4.15. न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा:-

न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा 2 उपसिद्धान्तों पर आधारित है।

(1) कानून की उचित प्रक्रिया (2) कानून की स्थापित प्रक्रिया

(1)कानून की उचित प्रक्रिया :– न्यायिक पुनरावलोकन के इस सिद्धान्त के अनुसार न्यायपालिका की न्यायिक पुनरावलोक की शक्ति व्यापक और विस्तृत हो जाती है, क्योकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत न्यायपालिका कानून के शब्दों के साथ–साथ उसके भाव (सेंस का भी परीक्षण करती है।

(2) **कानून की स्थापित प्रक्रिया :–** न्यायिक पुनरावलोकन के इस सिद्धान्त में न्यायपालिका के न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति सीमित हो जाती है क्योंकि इस सिद्धान्त में न्यायपालिका केवल कानून के शब्दों की व्याख्या करता है।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्निरीक्षण के सिद्धानत का उल्लेख संविधान के उपबन्धेां में कही नहीं मिलता है फिर भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त के आधारभूत तत्वों की मौजूदा स्थिति के कारण इस सिद्धान्त का स्वतः विकास हुआ। साधारणतया न्यायिक निरीक्षण की तीन आवष्यक शर्तें हैं:–

1. लिखित तथा कठोर संविधान।

2. केन्द्र व राज्यों के मध्य शक्ति विभाजन
3. मौलिक अधिकारों की व्याख्या।

भारतीय शासन विधान इन सभी शर्तो को पूरा करता है। अतः स्पष्ट संवैधानिक उपबन्धों के अभाव में भी न्यायिक निरीक्षण के सिद्धान्त का चलन हुआ है और अनेक निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने इसका प्रयोग किया हैं और कार्यपालिका तथा संसद के इन कार्यों तथा विधियों को असंवैधानिक घोषित किया जो संविधान के प्रावधानों के विरूद्ध थे।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद 13 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी कानून द्वारा राज्य मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है तो उस कानून को अवैध घोषित किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 32 द्वारा अपने मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होने पर कोई भी नागरिक संवैधानिक उपचार प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षण के लिए कार्यपालिका और संसद के द्वारा निर्मित कानूनों का पुनर्विलोकन कर सकता है।

द्वितीय, संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत संघ और राज्यों की विधायी सीमा का उल्लेख किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकता है जिससे संघ अथवा राज्यों ने अपने क्षेत्राधिकाार को तोड़ा हो। इसका अभिप्राय यह है कि यदि संघ–सूची के विषयों का कोई राज्य कानून बनाता है तो वह कार्य संविधान के प्रतिकूल होगा और सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैधानिक घोषित करेगा। सवंधिान के अनुच्छेद 254 में यह प्रावधान किया गया है कि समवर्ती सूची के किसी विषय पर यदि किसी विषय पर यदि किसी राज्य विधान सभा द्वारा निर्मित कानून संघ संसद द्वारा निर्मित किसी कानून से संघर्ष में है तो राज्य का कानून अवैध माना जायेगा।

तृतीय, संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संषोधन का अधिकार एकमात्र केन्द्रीय संसद को ही प्रदान नहीं किया गया है अपितु उसमें राज्य–विधानसभाओं की भी निष्चित भूमिका का उल्लेख है यदि कोई संषोधन विधान की प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता तो न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है।

चतुर्थ, संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार ऐसे मामलों में जहां संविधान की व्याख्या का प्रष्न निहित है, सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय को संवैधानिक मामलों पर निर्णय देने का अन्तिम अधिकार है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले कई वर्षों में कई अभियोग के सिलसिले में कुछ ऐसे फैसले दिये है जिनमें न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। **गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मुकदमें** में **'निवारक निरोध अधिनियम'** में 14 वें खण्ड को असंवैधानिक घोषित किया गयां **'स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम'** के कतिपय अंषो को सर्वोच्च न्यायालय ने सवंधिान के प्रतिकूल घोषित किया। **'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य'** के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने पूर्व–निर्णयों को बदल डाला तथा मूल अधिकरों को **अक्षुण्ण** घोषित किया। इसी प्रकार केषवानन्द भारती की याचिका पर विचार करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 22 अप्रैल, 1973 को 25 वें संविधान संषोधन के अनुच्छेद (21) (स) को अवैध घोषित

किया। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी विचार प्रकट किया कि संसद मूल अधिकारों में सवांहन कर सकती है, परन्तु यदि किस संधोधन से सवंधिान का बुनियादी ढांचा प्रभावित होता है तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे संषोधन को असंवैधानिक घोषित कर सकता है। इस प्रकार भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का स्पष्ट चलन हो गया है।

3.4.16. भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन : प्रकृति और सीमाएं – भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन का क्षेत्र अमेरिका की तुलना में सीमित है। अमरीकी संवधान अत्याधिक संक्षिप्त है और संविधान की इस संक्षिप्ता के कारण संघीय षासन और इकाइयों के बीच विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न होते रहते है। और इसके परिणाम स्वरूप न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। भारत के संविधान में संघ और राज्यों के मध्य संधर्ष की स्थिति को कम से कम करने के लिए संघ और राज्येां के मध्य कानून निर्माण की शक्तियेां का विभाजन पर्याप्त विस्तार के साथ कर कर दिया गया है। साथ ही समवर्ती सूची की भी व्यवस्था की गयी है जिसके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्राप्त है।

उपर्युक्त कारण अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर इन दोनों देषों की संवैधानिक व्यवस्थाओं में ही निहित है।

अमरीकी संविधान में कानून की उचित प्रक्रिया शब्दावली को अपनाया गया है इस व्यवस्था के आधार पर अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय किसी भी कानून की वैधानिकता की जॉच दो बातों के आधार पर कर सकता है।

(1) संघ या राज्य जिसके भी विधान मण्डल ने इस कानूनों को बनाया है उसके द्वारा इसका निर्माण उसकी कानून निर्माण की क्षमता के अन्तर्गत था भी या नही।

(2) वह कानून की उचित प्रक्रिया की शर्तों को पूरा करता है अथवा नहीं। इस प्रकार यदि विधानण्डल द्वारा बनया गया कोई कानून पूर्णतया उसकी शक्तियों के अन्तर्गत हो तो भी यदि वह कानून की उचित प्रक्रिया के अर्थात प्राकृतिक न्याय के कुछ सर्वमान्य सिद्धान्तों के विरूद्ध हो तो उसे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय संविधान में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया की जापानी शब्दावली को अपनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघ या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून का निर्माण करने में अपनी कानून निर्माण की क्षमता का उल्लंघन किया हो। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय यह निष्चित करने में कि अमुक कानून संवैधानिक है या नहीं प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों को या उचित–अनुचित की अपनी धारणाओं को लागू नहीं कर सकता। यदि हमारे संघ राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाया गया कोई कानून ऐसा है जिसका निर्माण करने में वह सक्षम है तो उसकी संवैधानिकता को चुनौती देना भारत के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है।

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन की जो सीमाएं है उनका उल्लेख सीरवाई के द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से किया गया है। भारत में किसी कानून को केवल इस आधार पर अवैध घोषित नहीं किया जा सकात है कि वह न्यायालय की सम्मति में स्वतंत्रता या संविधान की भावना के किसी सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है। जब तक कि वे सिद्धान्त संविधान में समाविष्ट न हो। किसी संविधि की संवैधानिकता

पर निर्णय देते हुए न्यायालय को कानून की बुद्धिमता या बुद्धिहीनता उसके न्याय या अन्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है।

3.4.17. न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व :–

न्यायिक पुनर्विलोकन की व्याख्या भारतीय लोकतंत्र के लिए बहुत अधिक आवष्यक और भारत की समस्त राजव्यवस्था के लिए अत्याधिक हितकर है। संविधान के द्वारा संध और राज्य सरकारों के बीच जो शक्ति विभाजन किया गया है, न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही उसकी रक्षा सम्भव है। शासन की शक्ति पर अंकुष रखने तथा नगारिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने का कार्य भी न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था संविधान के सन्तुलन का कार्य करती है। और न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही किया जा सकता है। न्यायिक पुनरावलोकन के आधार पर ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय संविधान के अधिकारी व्याख्याता तथा रक्षक के रूप में कार्य कर सकते हैं।

न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था भारतीय संविधान का अनिवार्य अंग है, लेनि संसद और न्यायपालिका का संघर्ष भारतीय राा–व्यवस्था के हित में नहीं है। अतः इस संघर्ष को टालने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैंः–

(1) ऐसी संवैधानिक परम्पराओं का विकास किया जाना चाहिए जिससे शासन के तीनों अंग अपनी–अपनी सीमाओं के अन्तर्गत एक–दूसरें के अधिकार द्वोत्र में हस्तक्षेप किये बिना मिल–जुलकर कार्य कर सके।

(2) न्यायालय संविधान के किसी भाग के सम्बन्ध में कठोर ओर अनुदार रूख न अपनायें, अन्यथा सामाजिक और आर्थिक प्रगति अवरूद्ध हो जायेगी।

(3) सरकार व संसद सर्वोच्च न्यायालय को राजीनति में न खीचे अन्यथा सम्पूर्ण संवैधानिक ढ़ाचा चरमरा उठेगा।

(4) यदि संसद का यह कर्त्तव्य है कि वह नीति निदेषक सिद्धान्तों को क्रियान्वित करे तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण न करे।

3.4.18. न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच सम्बन्ध–

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को लोकतंत्र के तीन प्रमुख स्तम्भ माना जाता है। न्यायाधीषों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है। न्यायपालिका का कार्य विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की न्यायिक समीक्षा कर सही और गलत को स्पष्ट करना है। संविधान के अनुच्छेद 122 में प्रावधान है। कि संसद अपने कार्य के लिए स्वतन्त्र है तथा न्यायालय उसमें दखल नहीं दे सकता, परन्तु कार्यपालिका संवैधानिक मर्यादाओं का पालन करते हुये अपना कार्य कर हरी है या नहीं, यह सुनिष्चित करने का अधिाकर न्यायपालिका के पास ही है। न्यायपालिका ने अधिकार के मुद्दे पर तो सक्रियता दिखायी ही है, राजनैतिक व्यवहार बरताव से संविधान को ठेंगा दिखाने की प्रवृत्ति पर भी अंकुष लगाया है। भारतीय संविधान शक्ति के सीमित बॅटवारे अवरोध तथा संतुलन के एक सुंदर सिद्धान्त पर आधारित है। संसद कानून बनाने और संविधान का संषोधन करने में सर्वोच्च है। कार्यपालिका उन्हें लागू करने तथा न्यायपालिका विवादों को सुलझाने और यह सुनिष्चित करने में सर्वोच्च है। कि क्या बनाये गये कानून संविधान के अनुकूल है। इस स्पष्ट कार्य विभाजन के बावजूद संसद और न्यायपालिका तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच टकराव भारतीय राजनीति की विशेषता रही है।

3.4.19. सारांष :–उपुर्यक्त अध्ययन के आधार पर स्पष्ट है कि भारत एं संध राज्य होते हुए भी इसमें इकहरी न्यायपालिका को अपनाया गया है। इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्तर पर सर्वोच्च न्यायपालिका तथा इसके अधीन राज्यें के उच्च न्यायालय है। सर्वोच्च न्यायालय सबसे उच्च अपीलीय अदालत है जो राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेषों के उच्च न्यायालयों के फैसलों के खिलाफ अपील सुनता है। सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार उच्च न्यायालय से अधिक व्यापक है। सर्वोच्च न्यायालय की संघीय व्यवस्था और मौलिक अधिकारों के रक्षक तथा भारतीय संघ के अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूा में बहुत अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। भारत के भूतपूर्ण महान्यायवादी एम. सी. सीतलवाड ने कहा था कि, ''इस न्यायालय के न्याय क्षेत्र तथा उसकी शक्तियॉ राष्ट्रमण्डल के किसी भी देष के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक है।'' सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के क्रियाकलाप को देखकर कहा जा सकता है कि संघीय व्यवस्था, मूल अधिकार और संविधान की रक्षा करने में सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव ही निष्पक्षता निर्भीकता और न्यायपरायणता का परिचय दिया है जिसके कारण ही भारत में न्यायिक पुनरावलोकन, न्यायिक सक्रियता एवं न्यायिक सुधार जैसे क्षेत्रों में भी न्यायालय की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र सीमित है क्योंकि संविधान निर्माताओं ने संविधान में ऐसे उपबन्धों को सम्मिलित किया है जो केन्द्र सरकार और राज्य सरकार के विवादों को कम करता है। जो न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र को सीमित करता हें वह केवल कानून को न्याय का आधार नहीं मानता बल्कि न्याय का आधार सामाजिक और आर्थिक भी है। इस विवरण से स्पष्ट है कि न्यायालय के इस व्यापक क्षेत्राधिकार की वजह से ही न्यायिक सुधार को भी बढ़ावा मिला है। न्यायिक सुधार के द्वारा न्यायिक प्रक्रिया में होने वाली देरी को कम करने का प्रयास किया गया है। ताकि जनता का विष्वास न्यायिक क्षेत्र में बना रहे। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी बता दिया कि 'सार्वजनिक हित' का आधार क्या है तथा स्वविवेक का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए। अब यह कहा जा सकता है कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय संसार के अन्य सभी सर्वोच्च न्यायालयों की तुलना में अद्वितीय तथा जनहितकारी बन गया है।

3.4.20. शब्दावली :–

जनहित याचिकाएं :– इसमें यह व्यवस्था की है कि कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे समूह या वर्ग की ओर से मुकदमा लड़ सकता हैं जिसको उसके कानूनी या संवैधानिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो।

न्यायिक सक्रिया वाद : उस न्याय प्रक्रिया को कहते है जिसमें न्याय का आधार केवल कानून न होकर सामाजिक एवं आर्थिक भी है। जब न्याय व्यवस्था आम जनता की जीवन दषा को सुधारने तथा उसे मूलभूत मानवीय अधिकार दिलाने में सक्रिय भागीदार होती है तो ऐसी न्याय व्यवस्था न्यायिक सक्रियतावाद कहलाती है।

परमादेष :– किसी सरकारी कर्मचारी को अपने सार्वजनिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करने के लिए यह रिट जारी की जाती है।

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया :– यह एक जापानी शब्दावली है इसका अर्थ है कि भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघ या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित किसी कानून

को अवैधानिक तभी घोषित कर सकता है जबकि सम्बन्धित विधानमण्डल ने इस कानून का निर्माण करने में अपनी कानून निर्माण की क्षमा का उल्लंघन किया हो।

लोकहित वाद :– लोकतंत्र में लोकहित वाद विधि शासन का एक आवष्यक तत्व है। विधि शासन केवल घनी और सुविधा सम्बन्ध वर्ग के अधिकारों को ही नहीं वरन् निर्बलतम वर्ग के लोगो के अधिकारेां का संरक्षण करता है और उन्हें न्याय प्रदान करता है। लोकहितवाद की अवधारणा सर्वोच्च न्यायालय को देष के निर्धन और कमजोर वर्ग के लोगों के अधिकारों के सजग प्रहरी के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

3.4.21. दीर्घ उत्तरीय प्रष्न :–

1. सर्वोच्च न्यायालय का संगठन या रचना किस प्रकार होती है।
2. सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय क्यों कहते हैं, उसके क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
3. सर्वोच्च न्यायालय को संविधान का रक्षक और नागरिकों के 'मूल अधिकारों' को रक्षक कहा जाता है विवेचना कीजिए।
4. सर्वोच्च न्यायालय की प्रक्रिया और अधिकार क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
5. उच्च न्यायालय की रचना तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
6. उच्च न्यायाल के न्यायाधीषों की नियुक्ति किस प्रकार होती है?

3.4.22. लघु उत्तरीय प्रष्नः–

1. न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ समझाइए तथा भारत में इसकी स्थिति की विवेचना कीजिए।
2. न्यायिक सक्रियता का अर्थ समझाइये और भारतीय न्याय व्यवस्था का स्वरूप बदलता जा रहा है जो निषेधात्मक की जगह रचनात्मक (विधेयात्मक) बन गयी है इसकी व्याख्या कीजिए।
3. न्यायिक सक्रियता के नये उभरते दौर को परिभाषित कीजिए।
4. न्यायिक सुधार को परिभाषित कीजिए तथा वर्तमान में इसकी स्थिति की विवेचना कीजिए।

3.4.23. बहु विकल्पीय प्रष्न :–

1.राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना या उससे सम्बन्धित व्यवस्था मेंपरिवर्तन को अधिकार किये प्राप्त है।

(क) राज्य विधान मण्डल
(ख) संसद
(ग) राज्यपाल
(घ) इनमें से कोई नहीं

2.उच्च न्यायालय के न्यायाधीषों का कार्यकाल कितने वर्ष की आयु तक निष्चित किया गया है:

(क) 60 वर्ष

(ख) 62 वर्ष
(ग) 65 वर्ष
(घ) 70 वर्ष

3. सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीषें की सेवानिवृत्ति आयु क्या हैः
(क) 58 वर्ष
(ख) 62 वर्ष
(ग) 60 वर्ष
(घ) 65 वर्ष

4. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीष की नियुक्ति कौन करता है।
(क) राष्ट्रपति
(ख) प्रधानमंत्री
(ग) विधि मंत्री
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

5. न्यायालय मूल अधिकारों के लिए कौन सा लेख जारी करता है।
(क) बन्दी प्रत्यक्षीकरण
(ख) परमादेष
(ग) प्रतिषेध
(घ) उपर्युक्त सभी।

3.4.24. संदर्भ सूची :–

1 भारत में लोक प्रषासन– हरिष्चन्द्र शर्मा एवं रमेष दुबे, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
2 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था –डा. वीरकेष्वर सिंह, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
3 भारत का संविधान – जयनारायण पाण्डे, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4 राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त– वी. के. तिवारी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
5 राजनीतिक अवधारणा एवं प्रवृत्तियॉ –श्री प्रकाष मणि त्रिपाठी, ज्ञानदा प्रकाषन, नई दिल्ली।
6 तुलनात्मक राजनीति –एनुल हसन रिज़वी, न्यू रायल बुक कम्पनी, लालबाग, लखनऊ।
7 राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त – ए. सी. कपूर, एस. चॉद एण्ड कम्पनी।
8 भारतीय प्रषासन – मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेषन्स, दिल्ली।
9 राज्य प्रषासन – सुरेन्द्र कटारिया, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर।
10 भारत में लोक प्रषासन – बी. एल. फाड़िया, साहित्य भवन पब्लिकेषन्स, आगरा।

खण्ड–4 दलीय व्यवस्था एवं चुनाव
इकाई–1 भारतीय राजीनति में दलीय व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दल

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देष्य
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. दल प्रणाली : अर्थ एवं प्रकार
4.1.2.1. दलीय व्यवस्था के गुण एवं दोष
4.1.2.2. दलीय व्यवस्था का महत्व
4.1.3. भारत में दलीय व्यवस्था का विकास
4.1.3.1. भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताएँ
4.1.4. भारत के राजीनतिक दल– चुनाव आयेाग द्वारा उनका वर्गीकरण एवं मान्यता
4.1.4.1. भारत में राजनीतिक दलों का विकास
4.1.4.2. राजनीतिक दलों के कार्य
4.1.5. भारत के राष्ट्रीय राजनीतिक दल
4.1.6. राष्ट्रीय राजनीतिक दल : एक मूल्यांकन
4.1.7. सारांष
4.1.8. संदर्भ
4.1.9. अभ्यास प्रष्न

4.1.0. उद्देष्य

इस इकाई के अध्ययन के पष्चात आप :

- भारत में दलीय व्यवस्था के विकास को समझ सकेंगे,
- दलीय व्यवस्था के महत्व की व्याख्या कर सकेंगे,
- भारत में राजनीतिक दलों के विकास की विवेचना कर सकेंगे, और
- राजनीतिक दलों की संरचना और कार्य–प्रणाली को स्पश्ट कर सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

वर्तमान राजनीति में दलीय व्यवस्था का विचार एवं संकल्पना एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। देष के शासन–संचालन, शासक वर्ग के चुनाव, प्रतिनिधित्व जैसे विषय दलीय व्यवस्था से सम्बन्धित मुद्दे हैं। राजनीतिक दलों से युक्त व्यवस्था को दलीय व्यवस्था कहते है। सामान्यतः इसमें कई दलों के बीच प्रतिस्पर्धा होती है। सिर्फ दलों का अस्तित्व में होना ही दलीय व्यवस्था के विद्यमान होने की गारंटी नहीं होती बल्कि दल अपने बीच व्यवस्था (अर्थात् दलीय व्यवस्था) स्थायित्व तथा क्रमिक सुव्यवस्था के सम्बन्धों की प्रवृत्तियों से व्यवस्था को निर्मित करते हैं। जहॉ स्थायित्व व क्रमिक सुव्यवस्था नहीं होती, वहॉ दलीय व्यवस्था उभार तथा किसी दलीय व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था की ओर संक्रमित हो रही होती है। दलीय व्यवस्था के इस विचार को ओस्त्रोगोर्सकी (Ostrogorsky), जेम्स ब्राइस व जियावानों सारटोरी जैसे विद्वानों ने आगे बढ़ाया। कई विद्वान सत्ता के लिए

संघर्षरत दलों की संख्या, प्रकार से दलीय व्यवस्था निर्धारित करते हैं; तो कई दलों द्वारा सरकार निर्माण व विपक्ष की भूमिका से इसे जोड़ते है। दुर्वजर जैसे विद्वान दलीय व्यवस्था के निर्माण को चुनावी नियमों से जोड़ते हैं।

लोकतांत्रिक शासन– व्यवस्था के प्रचलन के कारण आज प्रत्येक लोकतांत्रिक देष अपने नागरिकों को संघ व संगठन–निर्माण की स्वतंत्रता देता है। इसका परिणाम दलीय व्यवस्था के संदर्भ में यह हुआ है कि अपने लोकतान्त्रिक अधिकारों का प्रयेाग करते हुए कई व्यक्तियों, समूहों नें संगठननुमा दल बना लिए हैं, जो राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के लिए और सत्ता प्राप्त करने के लिए चुनाव भी लड़ते हैं और व्यवस्था में अपना प्रभाव बनाए रखने के लिए चुनाव जीतने का हर संभव प्रयास करते हैं। भले ही दलों को कम सीट/मत मिले या अधिक। परन्तु किसी भी दल को आवष्यक बहुमत न मिलने की स्थिति में एक–एक सीट महत्वपूर्ण हो जाती है, इसलिए गठबंधन की राजनीति शुरू हो जाती है और बहुत सारे दलों के गठबंधन की सरकार गठित होने लगती है। इस प्रकार बहु–दलीय व्यवस्था महत्वपूर्ण हो जाती है, जहॉ मतदाता के पास अधिक विकल्प व शासकों को चुनने की अधिक स्वतंत्रता होती है।

इस तर्क का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सभी लोकतन्त्रों की दलीय व्यवस्था, बहु–दलीय व्यवस्था की ओर ही बढ़ती है। लोकतान्त्रिक शासन में द्वि–दलीय व्यवस्थाऍ (जैसे ब्रिटेन व अमेरिका) तथा एक–दल प्रभुत्व व्यवस्था (जैसे 1952–1967 तक भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का शासन) भी पायी जा सकती है; परन्तु विष्व के अधिकतर हिस्सों की दलीय व्यवस्थाओं में बहु–दलीय व्यवस्था प्रचलित हो चुकी है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है।

इस इकाई में हम भारतीय दलीय व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे। हम भारत में दलीय व्यवस्था की विशेषताएं व चुनाव आयेाग द्वारा राजनीतिक दलों का वर्गीकरण व मान्यता की भी विवेचना करेंगे।

4.1.2. दल प्रणाली : अर्थ एवं प्रकार

शासन प्रणालियों में लोकतंत्र से बेहतर अन्य कोई शासन प्रणाली नहीं है। राजनीतिक दलों के बिना चुनाव कराना कठिन होता है तथा चुनाव बिना किसी लोकतांत्रिक प्रणाली का गठन असंभव सा होता है। आज के युग में लोकतन्त्र, चुनाव व राजनीतिक दल पर्यायवाची शब्द बन गए हैं। किसी भी लोकतन्त्र में जनमत की भूमिका भुलाना लोकन्त्र के सार को उससे वंचित करता है।

दल प्रणाली एक आधुनिक प्रयोजन है; कोई लगभग दो सौ वर्ष पुराना। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध भाग में यूरोप, उत्तरी अमेरिका व एषिया में राजनीतिक दलों का उदय स्पष्टतः देखा जा सकता है। यद्यपि बिना राजनीतिक दल कहे, सुने या माने इनका अस्तित्व भिन्न–भिन्न समाजों में रहा था– कभी काई 'लंकास्ट्रीयन' व 'यार्कस्टिस', नाम से अथवा कभी कोई 'केवीलिमर्स' एवं 'राउण्डहैड्स' के नाम से जाने जाते थे। इन्हें आधुनिक रूप के दल नहीं कहा जा सकता; ये तो मात्र एक प्रकार के परस्पर विरोधी गुट थे, जो किसी एक गुट अथवा किसी एक विचार का समर्थन अथवा विरोध करते थे।

दल प्रणालीः वर्गीकरण

राजनीतिक दलों को अनेक आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है। एक आधार, किसी देष में उनकी संख्या को लेकर हो सकता है– एक–दलीय, द्वि–दलीय अथवा बहुदलीय। एक दलीय व्यवस्था का आधार वैचारिक भी हो सकता है, जैसे–म्यांमार, ईरान, सीरिया, केन्या, घाना, तन्जानिया जैसे देषों में। प्रभुत्वकारी एक दलीय व्यवस्था भी हो सकती हे, जैसे– 1967 से पूर्व भारत में कांग्रेस दल। द्वि–दलीय संयुक्त राज्य अमेरिका, यूनाइटेड किंगडम आस्ट्रेलिया आदि देषों में; बहुदलीय जैसे फ्रांस, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड आदि देषों में विद्यमान है।

मैारिस दुवर्जर ने (Political Parties) में दलों के चार रूप बताए हैं–

1. काकस, सक्रिय गुट प्रकार, जैसे– संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनीतिक दल।
2. ब्रांच, जिन दलों की सदस्यता बहुत व्यापक हो तथा जिनकी शाखाएं देष भर में हों, उदाहरण के लिए यूनाइटेड किंगडम का मजदूर दल अथवा भारत में भारतीय जनता पार्टी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस।
3. सैल, ब्रांच रूप से छोटी, अत्यधिक संगठित एवं समग्र। गुप्त रूप से कार्य करना, जेसे–पूंजीवादी देषों में साम्यवादी दल।
4. मिलिषिया, लगभग सैनिक आधार पर संगठित रूप जहॉ दलीय सदस्यता पूर्ण निष्ठा पर आधारित होती है, जैसे–मुसोलिनी का फॉसीवादी दल तथा हिटलर का नाजीवादी दल।

राजनीतिक दलों के कुछ रूपों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित किया जा सकता हैः

एक दलीय व्यवस्था

एक दलीय व्यवस्था, दलीय व्यवस्था का वह रूप है जहॉ किसी राज्य में एक ही राजनैतिक दल हो अथवा अन्य दल हों तो उनका महत्व न हो। एक–दलीय व्यवस्था, साम्यवादी देषें में होती है। वहां पर साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य दलों को राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने पर प्रतिबंध होता है। एकदलीय व्यवस्था के दूसरे उदाहरण सैनिक तानाषाही वाले देष हैं जहॉ विरोधी दल समाप्त कर दिए जाते हैं। द्वितीय विष्व युद्ध के समय तथा उससे पूर्व जर्मनी नार्जी पार्टी तथ इटली में फ्रांसीवादी पार्टी का शासन इसके उदाहरण है। एक–दलीय व्यवस्थाओं में राजनीतिक प्रतियोगिता का अभाव होता है तथा चुनाव आदि छलावा मात्र होते हैं।

एक दलीय प्रणाली के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैंः

1. एकदलीय प्रणाली में चूंकि एक ही राजनीतिक दल को महत्व प्राप्त होता है, इसलिए उसी दल की सरकार बनती है; जो कि प्रायः स्थायी होती है।
2. एक दलीय सरकार शक्तिषाली तथा प्रभावषाली होती है।
3. चूंकि एक–दलीय व्यवस्था में विरोधी दल नहीं होते और यदि होते भी हैं तो संगठित नहीं होते, इसलिए विरोधी दल द्वारा की गयी अनावष्यक आलोचना में समय नष्ट नहीं होता।

इस प्रकार की दल प्रणाली के मुख्य दोष निम्नलिखित है;

1. एक दलीय व्यवस्था में चूंकि एक ही दल होता है, उससे राज्य में तानाषाही फैलती है।
2. ऐसी व्यवस्था में नागरिक की स्वतंत्रता सरकार की कृपा दृष्टि पर ही निर्भर करती है।
3. शासन का स्वरूप अनुत्तरदायी हो जाता है।
4. एक–दलीय व्यवस्था में लोकतन्त्र सुरक्षित नहीं होता।

द्वि–दलीय व्यवस्था

इस प्रकार की दल प्रणाली में किसी एक राज्य में मुख्यतः दो राजनैतिक दल होते हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका में डेमोक्रेटिक पार्टी एवं रिपब्लकन पार्टी। दो–दलीय राज्यों में कुछ अन्य छोटे–बड़े दल हो सकते हैं, परन्तु देष की राजनीति में उनका कोई विषेष महत्व नहीं होता। द्वि–दलीय प्रणाली में पाए जाने वाले गुणों का उल्लेख संक्षेप में निम्नलिखित हैः

(I) सरकार में स्थिरता बनी रहती है;
(II) सरकार का उत्तरदायित्व बना रहता है।
(III) सषक्त विपक्ष, मनमानेपन के शासन से बचाता हैं।
(IV) सरकार के निर्माण में आसानी होती है।
(V) सत्ता–हस्तांतरण सुविधानजक हो जाता है।

द्वि–दलीय प्रणाली में मुख्य दोषों का वर्णन निम्नलिखित है;

(I) चयन विकल्प सीमित हो जाते है;
(II) लोकतन्त्रीय सरकार, दलीय सरकार बन जाती है;
(III) दलगत तनाव तीव्र हो जाते हैं;
(IV) विधानपालिका के मान–सम्मान में कमी आ जाती है।

बहु–दलीय व्यवस्था

जिन राज्यों में एक समय पर दो से अधिक राजनीतिक दल लगभग बराबर सषक्त हों, वहॉ बहुदलीय प्रणली होती हैं। फ्रांस, जर्मनी, स्विटज़रलैण्ड आदि राज्येां में बहुदलीय प्रणाली देखी जा सकती है। बहुदलीय प्रणाली के मुख्य गुणों का वर्णन निम्नलिखित किया जा सकता है–

विधानमण्डल के महत्व में कोई कमी नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह कि बहु–दलीय प्रणाली में किसी भी राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता, इसलिए हर फैसला विधानमण्डल पर छोड़ा जाता है।

(I) बहु–दलीय व्यवस्था

जिन राज्यों में एक समय पर दो से अधिक राजनीतिक दल लगभग बराबर सषक्त हों, वहॉ बहुदलीय प्रणाली होती है। फ्रांस, जर्मनी, स्विटरज़रलैण्ड आदि राज्यों में बहुदलीय प्रणाली देखी जा सकती है। बहुदलीय प्रणलाी के मुख्य गुणेां का वर्णन निम्नलिखित किया जा सकता है–

1. विधानमण्डल के महत्व में कोई कमी नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि बहु–दलीय प्रणाली में किसी भी राजीनतिक दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता, इसलिए हर फैसला विधान मण्डल पर छोड़ा जाता है।
2. बहु–दलीय व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनाए रखने में सहायता मिलती है, क्योंकि ऐसी प्रणाली में दलीय संगठन बहुत अधिक कठोर नहीं हेाता।

3. चूंकि ऐसी व्यवस्था में अनेक दल होते हैं, इसलिए राज्य के विभिन्न वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।
4. मतदाताओं को उम्मीदवारों के चयन में अधिक सुविधा होती है। लगभग सभी राजनीतिक दल अपने–अपने उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने की आज्ञा दे देते हैं।

बहुदलीय व्यवस्था के मुख्य दोष निम्नलिखित हैः

1. बहु–दलीय व्यवस्था में संगठित सरकार उत्तरदायित्व निभाने में सफल नहीं होती।
2. बहु–दलीय व्यवस्था में सरकार स्थायी नहीं होती, क्योंकि ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता
3. चूँकि बहु दलीय प्रणाली में सरकार अस्थायी होती है, इसलिए ऐसी व्यवस्था में नीतियों की निरंतरता स्थापित नहीं की जा सकती।
4. बहु–दलीय प्रणाली में न केवल सरकार अस्थायी होती है, इसमें विरोधी दल भी संगठित नहीं होता। फलस्वरूप लांकतंत्रीय व्यवस्था को सदैव खतरा बना रहता है।

4.1.2.1. दलीय व्यवस्था के गुण एवं दोष

दलीय व्यवस्था के निम्नलिखित गुण एवं दोष हो सकते है–

दलीय व्यवस्था के गुण :

- राजनीतिक संरचना तथा भर्ती के माध्यम से दल देष में लोगों को एकताबद्ध रखते हैं। वे उनके सामने मुद्दों तथा मामलों को ही नहीं रखते, बल्कि वे स्थानीय तथा क्षेत्रीय मुद्दों को राष्ट्रीय चरित्र भी प्रदान करते हैं।
- दल निरंकुषवाद की प्रवृत्ति पर अंकुष लगाने का कार्य करते हैं।
- राजनीतिक दलों की भूमिका के बिना शासन का संसदीय रूप नहीं चल सकता।
- दल के अस्तित्व का वास्तविक कारण है ''जनमत को केन्द्रित करना तथा राजनीतिक निर्णय के लिए मुद्दों का निर्माण करना।''
- दल देष को धूर्त नेताओं द्वारा उत्पन्न की जाने वाली राजनीतिक उथल पुथल से बचाते हैं। वे मुद्दों तथा प्रति मुद्दों को पहचानते हैं तथा उसके उपरान्त लोगों को उनसे संबंधित गुणों एवं दोषों से परिचित कराते हैं।

दलीय व्यवस्था के दोष :

- दलीय व्यवस्था का उदय तथा विकास किसी अस्वाभाविक राजनीतिक परिवेष की तरह है। विभिन्न राजनीतिक दल लोगों के बीच बनावटी समझौता प्रदर्षित करते हैं, जो समान विचार रखने का ढोंग रचते हैं।
- दल निहित स्वार्थों के हाथों में उपकरण मात्र बन जाते हैं। बड़े–बड़े सामाजिक तथा आर्थिक संगठन अपने स्वार्थों प्रयोजनों के लिए राजनीतिज्ञों को भाड़े पर रखते हैं।
- अमेरिकी राष्ट्र के संस्थापकगणों ने राजनीतिक दल को गुट अथवा भीड़ की हिंसा का उपकरण कहा है।

- अधिकांष मामलों में राजनीतिक दल अपने हितों के लिए लड़ते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय को सदस्यगण अपने दलीय हित की दृष्टि से देखते हैं।
- दलीय व्यवस्था मानव की वैयक्तिकता को नष्ट कर देती है। दल के स्वामी जो निर्णय करते हैं अन्य के लिए उसका पालन तथा अनुकरण करना अनिवार्य होता है।

4.1.2.2. दलीय व्यवस्था का महत्व

प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों का अपना महत्व है, जिसकी आषाएं व आषंकाएं जहॉ अपनी दलीय व्यवस्था पर निर्भर हैं, वहीं राजनीतिक गुरूत्वाकर्षण का केन्द्र भी है। दल लोगों के विचारों व मतों के वाहक तथा चुनाव कराने के शक्तिषाली उपकरण के रूप में काम करता है।

जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन अर प्रतिनिधियों द्वारा शासन व्यवस्था के संचालन की इस संपूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है, इसके अतिरिक्त प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और राजीनतिक दल लोकमत के निर्माण तथाा उसकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। वर्तमान में साधारणतया एक देष के विधान या कानून के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं होता है, किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवष्यक और उपयोगी है जितना कि विधान या कानून।

भारत के संविधान में भी राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं है परन्तु राजनीतिक दलों की व्यवस्था है। आधुनिक राजनीतिक जीवन के लिए दलीय संगठनों का बड़ा महत्व है। वर्क ने ठीक ही कहा है कि दल प्रणाली लोकतन्त्रात्मक भारतीय शासन व्यवस्था के लिए अपरिहार्य बन गया है।

4.1.3. भारत में दलीय व्यवस्था का विकास

अन्य लोकतांत्रिक प्रणालियों की भॉति भारत में भी राजनीतिक दलों की व्यवस्था की गयी है। भारत में राजनीतिक दलों का उदय तथा उनका संगठन पष्चिमी समाजों की दलीय व्यवस्था की भॉति नहीं हुआ है फिर भी भारत में राजनीतिक दलों के विकास को 19वीं शताब्दी की घटनाओं से जोड़ा जा सकता है। 1885 ई. में ब्रिटिष ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अवकाष प्राप्त कर्मचारी ए. ओ. ह्यूम ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी।

भारत में राजनीतिक दलों के उदय एवं विकास की कहानी 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से शुरू हुई बतायी जा सकती है। 1947 के पष्चात कांग्रेस पार्टी एक राजनीतिक दल के रूप में उभर आयी। लगभग 1967 में चुनावों तक कांग्रेस ही एकमात्र दल था जो केन्द्र व राज्येां में एक छत्र शासन कर रहा था। 1967 के चुनावों के पष्चात् राज्येां में क्षेत्रीय दलों के फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी को क्षति पहुॅची तथा अनेक राज्येां में गैर–कांग्रेसी सरकारें स्थापित होने लगी। 1975 में आंतरिक आपात स्थिति लागू होने के बाद तथा 1977 में लोकसभा चुनावों के फलस्वरूप केन्द्र में कांग्रेस का शासन समाप्त हो गया। अनेक गैर–कांग्रेसी व गैर–साम्यवादी दलों द्वारा बनाए गए राजनीतिक गठबन्धन ने जनता पार्टी का गठन किया था। 1980 तक जनता पार्टी केन्द्र में शासन करती रही, परन्तु 1984 में कांग्रेस की स्थिति सुधरने लगी। 1989 के पष्चात् भले ही केन्द्र में कांग्रेस की सरकार बनी, परन्तु उसके हाथों से शक्ति धीरे–धीरे फिसली चली गयी। 1999 तक

कांग्रेस के दम खर पर केन्द्र में उसके मित्र दलों के हाथों में शक्ति रही। इस बीच राज्येां में क्षेत्रीय दल अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय बनते चले गये। 1999 के लोकसभा चुनावों में भातरीय जनता पार्टी के नेतृत्व में बने गठबंधन राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबन्धन (एन. डी. ए.) ने क्षेत्रीय दलों तथा कुछ गैर–कांग्रेस व गैर–वामपंथी दलों के साथ पॉच वर्ष तक शासन चलाया। 2004 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस के नेतृत्व में बने संयुक्त प्रगतिषील गठबंधन (यू.पी.ए.) ने केन्द्र में सरकार बनायी। वर्ष 2009 के चुनावों में पुनः यू. पी. ए. गठबंधन की सरकार बनी। इसी बची भारतीय जनता पार्टी ने लगातार अपनी शक्ति में सुधार किया। 2014 के आम चुनावों भारतीय जनता पार्टी ने ऐतिहासिक जीत दर्ज की और पुनः राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन की सरकार केन्द्र में बनी।

स्वतंत्रता के पहले कांग्रेस के अतिरिक्त साम्प्रदायिक राजनीतिक दलों का भी गठन हुआ था। इनमें मुस्लिम लींग, हिन्दू महासभा, अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कड़घम आदि उल्लेखनीय है। ये दल अपने सम्प्रदाय अथवा प्रांतों के हितों के लिए मांग करते हैं। मुस्लिम लीग ने तो 1940 के बाद पाकिस्तान की मांग आरम्भ कर दी थी तथा 1947 ई. में पाकिस्तान के रूप में हमें दिखायी देती है।

स्वतंत्रता से पूर्व वैचारिक आधार भी कुछ राजनीतिक दलेां का गठन हुआ था। साम्यवाद दल इसी प्रकार का एक उदाहरण है। 1964 में साम्यवादी दल में फूट पड़ गयी तथा इससे दो दल (साम्यवादी दल तथा साम्यवादी–मार्क्सवादी) उभरकर आए हैं। 20वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इन दोनेां दलों ने मिलकर चुनावी रणनीति अपनायी है, भले ही इनका आपस में विलय नहीं हुआ हैं।

स्वतंत्रता के पष्चात भारत में अनेक प्रकार के राजनीतिक दलों का केन्द्र तथा राज्यों में उदय हुआ है। भारतीय जनसंघ जो बाद में भातरीय जनता पार्टी बनकर उभरी है, भारत की एक सषक्त एवं महत्वपूर्ण पाटी्र है। कुछ समाजवादी दल तथा उनके घटक भी अपने–अपने दलीय अस्तित्व को बनाए हुए हैं। राज्येां में अनेक प्रकार के क्षेत्रीय दल, जैसे–नेषनल कांफ्रेस (जम्मू–कष्मीर) अकाली दल (पंजाब) राष्ट्रीय लोकदल (हरियाणा) तेलगूदेषम (आंध्र प्रदेष) असम गण परिषद, (असम) आदि लोकप्रिय हैं।

4.1.3.1. भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताएॅ

भारत में विद्यमान दलीय व्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं इनमें से कुछ विशेषताओं का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है–

1. **राजनीतिक ध्रुवीकरण का अभाव और विखण्डन की प्रक्रिया–** भारत में राजनतिक दलों के ध्रुवीकरण के प्रयास तो हुए, लेकिन उन प्रयासों की उपलब्धियों की दीर्धकाल तक स्थायी नहीं किया जा सका। सन् 1977 में जनता पार्टी का गठन और बाद में उसमें विखराव, 1988 में जनता दल का गठन और उसमें विखराव के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक दलों में ध्रुवीकरण के स्थान पर विखण्डन की प्रक्रिया की प्रवृत्ति है। इसके लिए ''व्यक्तिवादी राजनीति '' को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। वामपंथी राजनीतिक दलों में अवष्य एकता की भावना है और वे 1977 के पष्चात् एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संसद राज्य विधान सभाओं और उसके बाहर संगठित होकर कार्य कर रहे हैं। इन दलों में विखराव की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है।

2. **दलीय व्यवस्था का संकट –** भारत में स्वतंत्रता के पष्चात सार्वजनिक जीवन में मूल्यों और नैतिक नियमों को गंभीर आघात पहुॅचा है। हमारी समूची व्यवस्था में अनैतिकता, अनास्था और अविष्वास जैसी विकृतियां घर कर गई है। राजनीतिक दलों को भी इस स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। उनहें भी अपनी ''पहचान के संकट'' का सामना करना पड़ रहा है।
3. **दल–बदल की प्रवृत्ति–** दल –बदल की प्रवृत्ति भारतीय दलीय व्यवस्था की एक लम्बे समय तक विकृति रही। इसका लाभ सभी ने उठाया। पूर्व में यह बीमारी राज्यों तक ही सीमित थी, फिर तो यह केन्द्र को भी प्रभावित करने लगी। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार के पतन के लिए मुख्यतः दल–बदल ही उत्तरदायी रहा। वर्तमान भातरीय राजीनतिक दलीय प्रणाली में दल–बदल ही उत्तरदायी रहा। वर्तमान भारतीय राजनीतिक दलीय प्रणाली में दल–बदल की प्रवृत्ति में खासी कमी आयी है। कांग्रेस सरकार ने 52.वें संविधान संषोधन अधिनियम 1985 द्वारा दल–बदल पर वैधानिक रोक लगाकर भारतीय राजनीति को स्वस्थ बनाने में बड़ा योगदान दिया है।

4.1.4. भारत के राजनीतिक दल–चुनाव आयोग द्वारा उनका वर्गीकरण एवं मान्यता–

भारत में राजनीतिक दलों का जन्म, विकास इस तरीके से नहीं हुआ, जिस प्रकार इंग्लैण्ड, अमेरिका और अन्य पष्चिम देषों में हुआ। यहॉ राजनीतिक दल का जन्म किसी कुलीन तन्त्र सत्तारूढ़ वर्ग को अपदस्थ करने के लिए न होकर, विषुद्ध रूप से विदेषी साम्राज्यवाद के विरूद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को चलाने के लिए हुआ था। वर्ष 1885 में एक दबाव गुट के रूप में कांग्रेस नाम से एक दल की स्थापना की गयी जिसने कालांतर में एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पष्चात एक राजनीतिक दल के रूप में परिवर्तित हो गया।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन को सुनिष्चित एवं प्रभावी ढंग से बरकरार रखने के लिए एक स्वतंत्रत आयोग का गठन किया गया। इसके मूल में संविधान निर्माताओं की यह भावना थी कि स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव लोकतांत्रिक प्रणाली के प्राण–वायु हैं जिसके अभाव में विधायी संस्था, राजनीतिक दल और यहॉ तक कि सरकार भी अपने नागरिकों के प्रति गैर–जिम्मेदार हो सकती है अतएव निर्वाचन का महत्व अत्यधिक है।

निर्वाचन आयोग का प्रमुख कार्य राजनीतिक दलों का देष की आम जनता द्वारा चुनाव में उसे दिये गये मतों के आधार पर उसका वर्गीकरण कर उसे मान्यता प्रदान करना तथा सुरक्षित चुनाव चिन्ह आवंटित करना है। इस संदर्भ में आयोग एक न्यायालय की भॉति कार्य करता है।

चुनाव चिन्ह् (आरक्षण व आवंटन) ओदष 1968 द्वारा राष्ट्रीय दलों एवं राज्य स्तरीय दलों के लिए निर्धारित मानदण्ड इस प्रकार है–

(क) राष्ट्रीय दल के लिए–

1. लोक सभा या विधानसभा के किसी आम चुनाव में उस राजनीतिक दल को 4 राज्यों के कुल वैध मतों में से 6 प्रतिषत प्राप्त हुये हों और उसने 4 लोक सभा की सीटें जीती हों।
2. उस राजनीतिक दल को तीन अलग–अलग राज्यों की लोक सभा सीटों की 2 प्रतिषत सीटें प्राप्त हुई हों।

3. किसी राजनीतिक दल को 4 या अधिक राज्यों में राज्य स्तरीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त हो।

(ख) राज्य स्तरीय दलों के लिए–

1. किसी दल ने राज्य विधान सभा चुनाव के कुल वैध मतों का 6 प्रतिषत प्राप्त किया हो तथा सम्बन्धित राज्य में 2 सीट प्राप्त किया हो।
2. कोई दल लोक सभा चुनाव में उस राज्य से कुल वैध मतों का 6 प्रतिषत प्राप्त किया हो तथा सम्बन्धित राज्य में लोक सभा की कम 1 कम 1 सीट जीती हो।
3. किसी दल ने राज्य की विधान सभा के कुल स्थानों का 3 प्रतिषत या तीन सीटें, जो भी ज्यादा हों, प्राप्त किया हो।
4. कोई दल लोक सभा अथवा विधान सभा चुनाव में कुल वैध मतों का 8 प्रतिषत प्राप्त कर लेता है।

4.1.4.1. भारत में राजनीतिक दलों का विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देष में राष्ट्रीय स्तर के दो ही दल थे– भारत राष्ट्रीय कांग्रेस तथा साम्यवादी दल। कांग्रेस ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण और स्वाधीनता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। और इसके लिए गांधी, नेहरू, पटेल, प्रसाद जैसे नेताओं के लिए राष्ट्रीार में सम्मोहन तथा सम्मान था। स्वतंत्रता के बाद वर्ष 1948 में रामराज्य परिषद की स्थापना हुई। 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय हुआ जो द्रविड़ कड़घम से पृथक हुए कुछ व्यक्तियों द्वारा गठित किया गया। सन् 1950 में श्री जय प्रकाष नारायण ने भारतीय समाजवादी दल की और कुछ ही समय बाद आचार्य कृपलानी ने किसान मजदूर प्रजा प्रार्टी की स्थापना की। 1951 में डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। सन् 1952 के आम चुनावों में 14 दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर और 51 दलों ने राज्य स्तर पर भाग लिया।

वर्ष 1967 के चुनावों से पूर्व कांग्रेस से विद्रोह करके अनेक कांग्रेसजनों ने क्षेत्रीय दलों की स्थापना की और उन्होंने विपक्षी दलों के साथ चुनाव गठबंधन किए जिन्हें अध्ययन हेतु निम्नानुसार वर्ग में विभाजित किया गया है–

पहला वर्ग– इसमें वे सब दल थे जिनकी संविधान में निर्दिष्ट लोकतंत्रीय धर्म निरपेक्ष राज्य की कलपना में निष्ठा थी। इन दलों में मुख्य थे – कांग्रेस, प्रजा समाजवादी, संयुक्त समाजवादी, स्वतंत्र, जनसंघ और कुछ राज्य स्तर के दल जैसे बंगला कांग्रेस, जन कांग्रेस और जनक्रांति दल।

दूसरा वर्ग – इसमें वे दल थे जिनकी निष्ठा प्रचलित संसदीय लोकतंत्र के आदर्ष में नहीं थी बल्कि रूसी अथवा चीनी नमूने के लोकतन्त्र की स्थापना में थी। ये दल थे– भारतीय साम्यवादी दल भातरीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी), मजदूर दल, मार्क्सवादी फॉरवर्ड ब्लॉक रिपब्लिकन पार्टी, क्रांन्तिकारी समाजवादी दल आदि।

तीसरा वर्ग – इस वर्ग के दल लोकतंत्रवाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद को पूरे तौर पर स्वीकार न करके साम्प्रदायवाद को प्राधनाता देते थे। जैसे–हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद, तथा मुस्लिम लीग।

चौथा वर्ग – इसमें वे दल थे जो अखिल भारतीय संविधानिक प्रष्नों की ओर उदासीन थे और प्रांतीय तथा साम्प्रदायिक समस्याओं को अधिक महतव देते थे।

जैसे– अकाली दल, झारखण्ड दल, द्रवड़ि मुनेत्र कड़घम, सर्वदलीय पर्वतीय नेता सम्मेलन, केरल कांग्रेस षिव सेना राजद आदि।

4.1.4.2. राजनीतिक दलों के कार्य

राजनीतिक दलों के कार्यों में मुख्यतया निम्नलिखित कार्य बताए जा सकते हैं:

1. चुनाव के दौरान उम्मीदवारों का चयन करना;
2. चुनाव अभियान का संचालन करना;
3. विधान पालिका में बहुमत प्राप्त करने पर सरकार का गठन करना।
4. जनमत का निर्माण तथा अभिव्यक्ति में सहायक
5. राजनीतिक षिक्षण
6. सरकार तथा लोगों के बीच एक कड़ी का काम करना।
7. कानून–निर्माण में सहायता करना।
8. विधान पालिका एवं कार्यपालिका में सम्पर्क बनाए रखना।

4.1.5. भारत के राष्ट्रीय राजनीतिक दल

राजनीतिक दलों का पंजीकरण निर्वाचन आयेाग करता है। वही इस बात को तय करता है कि कौन–कौन से दल राष्ट्रीय हैं अथवा क्षेत्रीय। 1952 के प्रथम आम चुनाव के समय 14 दलों को राष्ट्रीय दल एवं 50 से ऊपर दलों को राज्य स्तरीय दलों के रूप में मान्यता दी गयी थी। वर्तमान में यह संख्या घटकर 7 रह गयी है।

02 सितम्बर 2016 को जारी भातरीय चुनाव आयोग की अधिसूचना के अनुसार भारत में निम्नलिखित दल ''राष्ट्रीय दल'' के रूप में मान्यता प्राप्त हैं–

(1) भारतीय जनता पार्टी
(2) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी
(3) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी
(4) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)
(5) बहुजन समाज पार्टी
(6) राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी
(7) सर्व भारतीय तृणमूल कांग्रेस पार्टी

1. भारतीय जनता पार्टी (BJP)

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना दिसम्बर 1980 में हुयी। यह भारतीय जनसंघ जिसकी स्थापना डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में 21 अक्टूबर, 1951 में हुयी थी, का एक संषोधित रूप है। 1952 के चुनाव में जनसंघ को लोकसभा में 3 स्थान और देष में कुल प्राप्त मतों का 3.1 प्रतिषत प्राप्त हुआ। जो निरंतर बढ़ता रहा। 1977 में जनसंघ ने जनता पार्टी के अभिन्न भाग के रूप में चुनाव लड़ा था। और यह जनता पार्टी में विलीन हो गया था परन्तु 1979 में जनता पार्टी के विघटन के बाद 1980 में एक 'नयी पार्टी' भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में अस्तित्व में आयी।

भारतीय जनता पार्टी भारत के दो प्रमुख राजनीतिक दलों में से एक है, जिसमें अन्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस हैं। 2014 तक भारतीय जनता पार्टी संसद में सदस्यों के हिसाब से सबसे बड़ी पार्टी है जबकि विभिन्न राज्य विधान सभाओं में यह दूसरी सबसे बड़ी पार्टी है। इसका वैचारिक और संगठनिक ढॉचा हिन्दू राष्ट्रवादी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़ा हुआ है।

भाजपा का संगठन एवं कार्य

भाजपा संगठन ठीक रूप से श्रेणीबद्ध है जिसमें अध्यक्ष पार्टी सर्वाधिकार रखता है। अध्यक्ष के बाद राष्ट्रीय कार्यकारिणी होगी जिसमें परिवर्तनीय मात्रा में कुछ देषभर से वरिष्ठ से वरिष्ठ नेता होते हैं और यह कार्यकारिणी पार्टी की उच्च सतर के निर्णय लेने की क्षमता रखती है। इसी के अनुरूप संरचना अध्यक्ष के नेतृत्व वाली कार्यकारिणी राज्य, क्षेत्रीय, जिला और स्थानीय स्तर पर भी होगी। भाजपा की आधिकारिक विचार धारा ''एकात्म मानववाद'' है।

भाजपा ने अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों को अपने चुनावी घोषणा पत्रों द्वारा स्पष्ट किया है। 1996 के चुनावी घोषणा–पत्र में राम मंदिर निर्माण, अनुच्छेद 370 के उन्मूलन और समान आचार संहिता लागू करने के अपने पूर्व के घोषणाओं को दोहराया। यद्यपि इसे भाजपा का 'हिन्दुत्व' का प्लेटफार्म कहा गया था। परन्तु इसमें अल्पसंख्याकों के हितों के पूर्ण संरक्षण का आष्वासन देते हुए तुष्टिकरण की राजनीति को नकारा गया। भाजपा का नारा है–सबके साथ न्याय, किसी का तुष्टिकरण नहीं। भाजपा का बल है ''हमारा एक राष्ट्र'' एक समान एवं एक संस्कृति है। हम सामाजिक सामंजस्यता को प्रोत्साहन देने के लिए प्रतिबद्ध है न कि कलह को।

(2) भारतीय राष्ट्रीस कांग्रेस (INC)

गत सौ वर्षों से अधिक समय से कांग्रेस भारत के सभी राजनीतिक दलों में सबसे प्रभावषाली दल रहा है। इसकी स्थापना श्री ए. ओ. ह्यूम ने की थी। इसकी स्थापना ब्रिटिष राज में 28 दिसम्बर 1885 में हुई थी। 1947 में आजादी के बाद कांग्रेस भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टी बन गयी। आजादी के बाद वर्ष 2016 तक, 16 आम चुनावों में से कांग्रेस ने 6 चुनावों में पूर्ण बहुमत से जीत हासिल की। 4 चुनावों में सत्तारूढ़ गठबन्धन का नेतृत्व किया। अतः कुल 49 वर्षों तक वह केन्द्र सरकार का हिस्सा रही। 2014 के आम चुनाव में कांग्रेस ने आजादी से अब तक का सबसे खराब प्रदर्षन किया और 543 सदस्यीय लोक सभा में केवल 44 सीट जीती।

कांग्रेस एक नागरिक राष्ट्रवादी पार्टी है, जो एक प्रकार के राष्ट्रवाद का अनुसरण करती है, जो आजादी, सहिष्णुता समानता और वैयक्तिक अधिकारों जैसे मूल्यों का समर्थन करता हैं।

(3) भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (CPI)

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी एक राष्ट्रीय स्तर का दल है। इसकी स्थापना वर्ष 1924 में की गयी। इस दल की स्थापना में प्रखयात मार्क्सवादी चिन्तक मानवेन्द्र नाथ राय का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान था। 1957 में केरल राज्य में इसे सरकार बनाने का अवसर मिला। यह भारत के किसी राज्य में पहली गैर–कांग्रेसी सरकार थी। 1959 में इस दल में फूट पड़ गयी और इसके दो गुट बन ये। भारतीय साम्यवादी दल और भारतीय साम्यवादीदल (मार्क्सवादी)। साधारणतया इनमें से प्रथम को भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी (CPI) तथा द्वितीय को मार्क्सवदी कम्यूनिस्ट पार्टी (CPM) कहा जाता है।

(4) मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (CPM)

भारतीय साम्यवादी दल में फूट पड़ने के कारण 1964 में इसका विभाजन हो गया तथा दो दल बन गए। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी पुराने साम्यवादी दल की अपेक्षाकृत अधिक उग्रवादी पक्ष है। यह दल साम्यवाद की चीनी विचारधारा के अधिक निकट है।

(5) बहुजन समाज पार्टी (BSP)

बहुजन समाज पार्टी सार्वभौमिक न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के सर्वोच्च सिद्धान्तों की सोच वाला भारत का एक राष्ट्रीय राजनीतक दल है। इसका गठन मुख्यतः भारतीय जाति व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे नीचे माने जाने वाले बहुजन, जिसमें अन्य पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अल्पसंख्यक शामिल हैं, ऐस समाज का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया गया था। इस दल का दर्षन बाबा साहेब अम्बेडकर के मानवतावादी बौद्ध दर्षन से प्रेरित हैं बसपा का गठन लोकप्रिय नेता कांषीराम द्वारा 14 अप्रैल 1984 में किया गया था। मायावती कई वर्षों से पार्टी की अध्यक्ष हैं।

(6) राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी (NCP)

राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी मुख्य रूप से महाराष्ट्र आधारित एक राजनीतिक पार्टी है। शरद पवार इसके अध्यक्ष हैं।इसे भारत की राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा प्राप्त है।

(7) सर्व भारतीय तृणमूण कांग्रेस (AITMC)

इस दल का जन्म भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से विघअन हेकर हुआ। इसकी अध्यक्ष (नेता) ममता बनर्जी हैं। अभी पिछले वर्ष 2 सितम्बर 2016 को इसे राष्ट्रीय पार्टी के रूप में मान्यता मिली। इसकी स्थापना ममता बनर्जी ने 1 जनवरी 1998 में की थीं।

4.1.6. राष्ट्रीय राजनीतिक दल : एक मूल्यांकन

भारतीय संदर्भ में राष्ट्रीय दलों की कोई विषेष प्रणाली बताना सरल काम नहीं है। भारत में दलीय विकास के इतिहास को स्वतंत्रता के पष्चात् के समय में अध्ययन किया जाए तो कुछ विषेष तथ्य स्पष्टतः देखे जा सकते हैं– प्रथम, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा स्वतंत्रता–संग्राम में किए गए त्याग के बदले में भारतीय जन मानस ने कांग्रेस पार्टी को सत्ता का आनन्द लेने का पूरा अवसर दिया था। परन्तु सत्ता प्रयोग की प्रक्रिया में कांग्रेस भ्रष्टाचार से दूर नहीं रह पाई थी। फलस्वरूप जनता पर कांग्रेस की पकड़ ढीली पड़ती गयी। भारत एक विषाल देष हैं जहॉ अनेक प्रकार के धर्म व जातियॉ हैं। अनेक धार्मिक व जातीय संस्थाओं ने अपने राजनीतिक दलों को बनाया है। अकालीदल हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, जस्टिस पार्टी, बहुजन समाज पार्टी आदि ऐसे ही कुछ दल हैं।

4.1.7. सारांष

भारत की समकालीन राजनीति के मुख्य कार्यों और नीतियों को देखने से स्पष्ट है कि वर्तमान राजनीति वास्तव में पुनर्निर्माण की राजनीति है; आधुनिकीकरण की राजनीति है; राष्ट्रीय एकता एवं विकास की राजनीति है। इस प्रसंग में

भारतीय दल व्यवस्था सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के लिए एक राजनीतिक माध्यम का कार्य करती है।

भारत की दल प्रणाली निरन्तर विकास का परिणाम है। आज भारत में दलीय व्यवस्था एक दलीय प्रभुता से चलकर एक लम्बा सफर तय कर चुकी है। आज विचारधारा और संगठन के स्तर पर कांग्रेस में इतनी शक्ति नहीं बची हैं कि वह अपना प्रभुत्व बनाए रख सके। मौजूदा दौर भाजपा का दौर है, वर्तमान में वही सबसे बड़ी पार्टी बन कर उभरी है। न केवल केन्द्र में बल्कि राज्यों में भी निरंतर भाजपा का दबदबा बढ़ रहा है। यह भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव का संकेत है।

4.1.8. संदर्भ

1. डॉ. सी. सी. सिंघल, भारतीय शासन एवं राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा, 2004.
2. झा. सी. सी.: इंडियन पार्टी पॉलिटिक्स ; दीप एण्ड दीप नई दिल्ली 2001.
3. एन. डी. अरोड़ा, राजनीति विज्ञान मैक्ग्राहिल एजुकेषन (इंडिया) नई दिल्ली, 2011. vle.du.ac.in
4. सुषीला कौषिक, ''भारतीय शासन और राजनीति हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेषालय, दिल्ली विष्वविद्यालय, 1990 पृष्ठ 432
5. www.nationalist online.com> Politics
   malharsandeep. bloyspot.com
   www.vivacepanonorama.com>indianpolitics.

4.1.9. अभ्यास प्रष्न

1. भारत में दल प्रणाली के विकास का विवरण दीजिए।
2. भारतीय दल प्रणाली की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. राजनीतिक दलों का अर्थ एवं महत्व समझाइए।
4. किसी राष्ट्रीय दल के मान्यता प्राप्त करने के आधारों का संक्षिप्त विवरण दें।
5. भारतीय जनता पार्टी के गठन एवं वर्तमान राजनीति में उसकी भूमिका की विवेचना कीजिए।

इकाई–2 क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की भारतीय राजनीति में भूमिका

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देष्य
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. क्षेत्रीय दलों का विकास
4.2.3. क्षेत्रीय दलों के उदय के कारण
4.2.4. क्षेत्रीय दलों का स्वरूप
4.2.5. क्षेत्रीय दलों की आधारभूत विशेषताएं
4.2.6. भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल
4.2.7. भारत में क्षेत्रीय दलों का महत्व
4.2.8. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की बढ़ती उपादेयता तथा राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भागीदारी
4.2.9. सारांष
4.2.10. संदर्भ
4.2.11. अभ्यास प्रष्न

4.2.0. उद्देष्य

इस इकाई के अध्ययन के पष्चात् आप :

- क्षेत्रीय दलों के विकास को स्पष्ट कर सकेंगे;
- क्षेत्रीय दलों की आधारभूत विशेषताओं को समझ सकेंगे;
- भारत में क्षेत्रीय दलों का महत्व एवं भूमिका के विषय में टिप्पणी कर सकेंगे;
- देष के राजनैतिक भविष्य में इन दलों की स्थिति एवं भूमिका की विवेचना कर सकेंगे।

4.2.1.प्रस्तावना

भौगोलिक दृष्टि से भारतीय राजनीतिक दलों की दो श्रेणियॉ हैं– एक राष्ट्रीय दल, दूसरे क्षेत्रीय दल जिनका प्रभाव क्षेत्र केवल एक–आध राज्य तक सीमित होता है। क्षेत्रीय दल मूलतः क्षेत्रीय जनमानस एवं क्षेत्रीय समस्यओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस कारण उनका जनाधार भी राज्य विषेष तक ही सीमित होता है। परन्तु राज्य की लोकसभा की सीटों से उनके प्रत्याषी जीतकर राष्ट्रीय राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते है।

भारत ने संघीय शासन प्रणाली अपनाई है। संघीय शासन प्रणाली में नीतियॉ एवं कार्यक्रम राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं जिसके कारण क्षेत्रीय समस्याएॅ या तो उपेक्षित हो जाती है। या उन पर कम ध्यान दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में उन क्षेत्रीय समस्याओं या मुद्दों का उठाने और उन पर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित करने के लिए क्षेत्रीय दलों का उदय होता है।

भारत में क्षेत्रीय राजनीतिक दल अपने–अपने राज्य व क्षेत्र में लोकप्रिय हैं। इनका उदय क्षेत्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु होता है। भारत जैसे विषाल देष में, जिसकी संख्या व आकार यूरोप के लगभग तीस राज्यों के समान हैं,वहॉ क्षेत्रीय

दलों का महत्व तथा उन क्षेत्रों में पायी जाने वाली विविधताओं के मूलाधार को भुलाना कठिन है।

4.2.2. क्षेत्रीय दलों का विकास

भारत में क्षेत्रीय दलों का इतिहास काफी पुराना है। हमारे देष में अनेक क्षेत्रीय दलों का उदय भिन्न–भिन्न समयों में भिन्न–भिन्न कारकों के फलस्वरूप हुआ बताया जाता है। समय के साथ–साथ क्षेत्रीय दलों के स्वरूप तथा उनके उद्देष्यों व कार्यक्रमों में परिवर्तन हुआ है।

अनुभव से यह सत्य उजागर है कि प्रायः सभी राष्ट्रीय दल अपनी क्षेत्रीय एवं राज्य स्तर की इकाइयों की उपेक्षा करके उन्हें समुचित महत्व प्रदान नहीं करते हैं। एक समय था जबकि क्षेत्रीय दल अपनी क्षेत्रीय मांगों के संदर्भ में देष से अलग हो जाने पर ज़ोर देते थे (जेसे पंजाब में अकाली दल तथा तमिलनाडु में डी. एम. के.)। पंजाब में 1920 से ही अकालियों की राजनीति चलती आ रही है। कष्मीर में पहले मुस्लिम कांफ्रेंस बनी जिसे बाद में नेषनल कांफ्रेंस के नाम से जाना गया। तमिलनाडु में जस्टिस पार्टी का गठन हुआ व 1949 में द्रमुक पार्टी का गठन हुआ। इसके अतिरिक्त बंगला कांग्रेस, केरल कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस जैसे कांग्रेस क्षेत्रीय दलों तथा विषाल हरियाणा पार्टी, गणतंत्र परिषद आदि का भी उदय हुआ है।

4.2.2.1. क्षेत्रीय दलों के उदय के कारण

भारत एक बहुभाषी, बहुजातीय, बहुक्षेत्रीय और विभिन्न धर्मों का देष है। भारत जैसे विषाल एवं विभिन्नताओं से भरे देष में क्षेत्रीय दलों के उदय के अनेक कारण हैं। कुछ क्षेत्रीय दल ऐसे रहे हैं जिनका आधार जातीय व संस्कृति था। ऐसे दल अपनी संस्कृतियों को बनाए रखने तथा उनके प्रोत्साहन हेतु अपने–अपने क्षेत्रों में कभी–कभी सरकारें भी बनाई थीं। इन दलों में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (तमिलनाडु), षिवसेना (महाराष्ट्र), असम गण परिषद (असम), नेषनल कॉन्फ्रेंस (जम्मू कष्मीर), झारखण्ड मुक्ति मोर्चा (झारखण्ड), मणिपुर पीपुल्स पार्टी (मणिपुर) अकाली दल (पंजाब), तेलगू देषम (आंध्र प्रदेष) आदि।

कुछ क्षेत्रीय दल ऐसे हैं जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में फूट पड़ जाने के पष्चात् बने थे, अधिकांषतः वे जो 1967 के बाद देखने में आते हैं। ये दल है।– बीजू जनता दल, जनता पार्टी, केरल कांग्रेस, राष्ट्रीय जनता दल, समाजवादी जनता पार्टी त्रृणमूल कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, तेलंगाना प्रजा समिति आदि–आदि।

कुल क्षेत्रीय दल नेता विषेष के नाम से विकसित हुए हैं। इन दलों में हरियाणा विकास कांग्रेस, हरियाणा जनहित कांग्रेस, लोक शक्ति आदि प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं

4.2.2.2. क्षेत्रीय दलों का स्वरूप

हमारे देष में मुख्य रूप से तीन प्रकार के क्षेत्रीय दल पाए जाते हैं। पहला वे दल जो जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं एवं उन पर आधारित हैं। दूसरे वे दल जो किसी समस्या विषेष को लेकर राष्ट्रीय दलों विषेष रूप से कांग्रेस से पृथक होकर बने हैं। तीसरे प्रकार के दल वे दल हैं जो लक्ष्यों और विचारधारा के आधार पर तो राष्ट्रीय दल है, किंतु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तक या कुछ मुद्दों में केवल कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। अकाली दल एक राज्य स्तरीय दल है जिसका स्वरूप धार्मिक राजनीति रहा है।

जब भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का प्रष्न उठा तो अकाली दल ने पंजाबी भाषा राज्य का गठन हुआ।

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का गठन छुआ–छूत एवं जात–पात के बन्धनों को मिटाने के लिए हुआ था। इन दोनें दलों का उद्देष्य है कि तमिल भाषा का एवं संस्कृति का प्रचार एवं हिन्दी के जबरन लादे जाने का विरोध किया जाए। बहुजन समाज पार्टी का लक्ष्य भी ब्राम्हणवाद का विरोध है। कांग्रेस दल के कमज़ोर होने के कारण क्षेत्रीय, राज्य स्तरीय दलों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

4.2.3. क्षेत्रीय दलों की आधारभूत विशेषताएं

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हमें क्षेत्रीय दलों के निमार्ण एवं विकास के सन्दर्भ में निम्न आधारभूत तत्वों को ध्यान में रखना होगा–

1. राष्ट्रीय अखंडता पर जोर देने के परिणामस्वरूप असमान समूहों और क्षेत्रों का जन्म हुआ। केन्द्र की एकाधिकारवादी नीतियों की व्यापक प्रतिक्रिया से राजनीतिक लामबंदी के लिए क्षेत्रीय विषिष्टताओं के मुहावरों और प्रतीकों का जन्म हुआ।
2. केन्द्र–राज्य अन्तर्विरोधों के संदर्भ में दो या अधिक सांस्कृतिक समूहों या क्षेत्रों के झगड़े निपटाने के लिए विषिष्ट सिद्धान्तों का निर्माण।
3. क्षेत्रीयता राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रतिक्रिया में क्षेत्रीय आधार प्रषासन के विकेन्द्रीकरण और पुनर्वितरण की मॉग को लेकर मुखर हुई। इन दलों का उद्देष्य संघात्मक ढॉचे के अन्तर्गत अधिक स्वायत्ता हासिल करना है।
4. केन्द्र और राज्यों या राष्ट्र और सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच राजनीतिक और आर्थिक संतुलन बनाना।

4.2.4. भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दल

भारत में समय–समय पर अलग–अलग क्षेत्रीय पार्टियों का गठन होता रहा है और ये देष के संसदीय लोकंत्र में अपनी भूमिका निभाती रही हैं। षिरोमणि अकाली दल और जम्मू एण्ड कष्मीर, नेषलन कांफ्रेंस जैसी कुछ पार्टियॉ तो 1947 में देष के आजाद होने से पहले ही गठित हो गयी थीं। लेकिन ज्यादातर दूसरी क्षेत्रीय पार्टियॉ देष के आज़ाद होने के बाद ही गठित हुयी हैं।

क्षेत्रीय दलों की श्रेणी में रखी जाने वाली पार्टियों का विकास खास तौस पर 1967 के बाद तेज हुआ, जब देष के स्वतंत्रता संग्राम में खास भूमिका निभाने वाली इंडियन नेषनल कांग्रेस पार्टी की देष के मतदाताओं पर पकड़ ढीली होने लगी।

इस समय लगभग चार दर्जन राज्य स्तरीय पार्टियों को चुनाव आयोग की मान्यता हासिल है और लगभग दो दर्जन ऐसी हैं जिन्हें अब तक मान्यता नहीं मिली है।

यहॉ हम उन क्षेत्रीय दलों की चर्चा करेंगे जिनमें स्थायित्व और विषिष्टताऍ दिखाई देती हैं।

(1) षिरोमणि अकाली दल

षिरोमणी अकाली दल का गठन दिसम्बर 1920 में पंजाब के 14 षिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी और सिख धर्म के एक कार्यबल के रूप में किया गया था।

इस पार्टी का गठन पंजाबियत, सिख धर्म और पंजाबी राष्ट्रवाद के उद्देष्य से किया गया था।

स्वतंत्रता से पूर्व इस दल के प्रमुख नेता मास्टर तारा सिंह थे। बाद में अकाली दल में फूट पड़ गयी, एक दल के नता मास्टर तारा सिंह रह और दूसरे के सन्त फतहसिंह। जब भाषा के आधार पर राज्य के पुनर्गठन का प्रष्न उठा तो अकाली दल ने पंजाबी भाषी राज्य की मॉग की। परिणामस्वरूप 1966 में पंजाब के दो भाग हरियाणा और पंजाब कर दिये गये। चण्डीगढ़ दोनों की राजधानी है। अकाली दल की मुख्य मॉगें रही है कि–

1. हरियाणा, हिमाचल प्रदेष और राजस्थान के पंजाबी भाषी इलाके पंजाब में शामिल किए जाए।
2. चंडीगढ़ अकेले पंजाब की राजधानी हो।
3. भाखड़ा नांगल जैसे जल विद्युत केन्द्र पंजाब के नियन्त्रण में रहे।
4. गुरूद्वारों के प्रबंध समितियों व सिक्खों के अन्य धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करे।
5. पंजाब में भारी उद्योगों की स्थापना की जाए।

इस मॉगों को लेकर अकाली दल ने न केवल धरना दिया और प्रदर्षन किया वरन् 'रास्ता रोका' और 'रेल रोको' जैसे– आन्दोलन भी चलाएं जिससे पंजाब में सामान्य जन–जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ और बागडोर सन्त जनरैल सिंह भिण्डरवाला जैसे उग्र विचारों वाले लोगों के हाथों में आ जाने से अनेक निर्दोष एवं निहत्थे लोगों की जानें गयीं। फलस्वरूप 1984 में पंजाब में 'आपरेषन ब्लू स्टार' के बाद मर्माहत पंजाब को आपसी प्रेम, भाइचारे एवं सद्भाव के मरहम की नितान्त आवष्यकता महसूस हुई। श्रीमती इन्दिरा गॉधी की हत्या के बाद नवम्बर 1984 में हुये दंगों की जॉच के लिए एक आयोग की स्थापना की गयी तथा अकालियें का आंनदपुर साहिब प्रस्ताव सरकारिया आयोग को सौंप दिया गया। सितम्बर 1985 में पंजाब में हुए चुनावों में पहली बार अकाली दल को स्पष्ट बहुत मिला। परन्तु 1986 में अकाली दल में पुनः विभाजन हुआ। 1967 में पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1989 में हुए संसदीय चुनावों में अकाली दल (मान गुट) ने पंजाब में 13 स्थानों में से 6 स्थान जीते। वर्ष 1997 में पंजाब राज्य का 11वां विधान सभा चुनाव हुआ, जिसमें षिरोमणि अकाली दल ने प्रकाष सिंह बादल के नेतृत्व में पहली बार पांच साल का कार्यकाल पूरा किया। पंजाब का इतिहास है कि हर पॉच साल में वहॉ की सरकार दूसरी पार्टी के हाथों में चली जाती है।

वर्ष 2012 में हुए चुनावों में पिछलें 46 साल का रिकार्ड टूट गया और एक बार फिर से अकाली और बीजेपी गठबंधन की सरकार बनी। वर्तमान में कांग्रेस की सरकार सरदार अमरिन्दर सिंह के नेतृत्व में सत्तासीन है।

(2) असम गण परिषद

असम गण परिषद, भारतीय राज्य असम की क्षेत्रीय राजनैतिक पार्टी है। यह पार्टी ऐतिहासिक 'असम आंदोलन' के बाद अस्तित्व में आई थी। चुनाव के बाद इसके अध्यक्ष प्रफुल्ल कुमार महन्त असम राज्य के मुख्यमंत्री बने थे। यह असम का प्रमुख क्षेत्रीय दल है, जिसका उदय 'असम आंदोलन' के फलस्वरूप हुआ था। असमिया मूल के लोगों में यह आषंका घर कर चुकी थी कि वे अल्पखंख्यक बन

जाएंगे, क्योंकि भारत की सीमा पार से लाखेां बांग्लादेषी वहॉ आकर बसते जा रहे थें इसके विरूद्ध 1978 ई. में वहॉ पर एक व्यापक आंदोलन की शुरूआत हुई।

वर्ष 1985 में वहॉ चुनाव हुए, जिसमें भाग लेने के लिए आन्दोलनकारियेां ने 'असम गण परिषद' नाम से एक क्षेत्रीय दल का गठन किया, जिसने विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्रापत किया और प्रफुल्ल कुमार महन्त वहॉ के मुख्यमंत्री बने। महंत 1985 से 1990 और 1996 से 2001 के बीच असम के मुख्यमंत्री रह चुके हैं। वर्तमान में भारतीय जनता पार्टी सर्वानन्द सोनोवाल के नेतृत्व में वहॉ सत्तासीन हैं।

(3) नेषनल कांफ्रेन्स

अन्य क्षेत्रीय दलों की तरह नेषनल कांफ्रेन्स भी एक खास धार्मिक और सांस्कृतिक समुदाय के नेताओं की राजनीतिक आंकाक्षाओं की उपज है। इसका गठन शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में किया गया था। नेषनल कांफ्रेन्स जो कई दषक तक जम्मू कष्मीर की सत्ता पर काबिज़ रही हैं, अब हर बीते दिन के साथ अपना महत्व और अस्तित्व खोती नज़र आ रही है। पिछले छह वर्षों से नेषनल कांफेन्स के सांगठनिक ढॉचे और राज्य सरकार की बागडोर पूरी तरह उमर अब्दुलला के हाथों में है। इस अवधि में बार–बार पार्टी के वरिष्ठ नेताओं को नजरअंदाज करने और बचकाना हरकतों के आरोप लगते रहें।

(4) द्रवड़ि मुनेत्र कड़गम और ऑल इण्डिया अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम.के.) की स्थापना एक क्षेत्रीय दल के रूप में तमिलनाडु (पहले मद्रास) में 1949 में हुई थी तथा 1957 में पहली बार इस दल को लोकसभा में प्रतिनिधित्व मिला था। 1967 के लोकसभा चुनावों में डी. एम. के. पार्टी को 25 सीटें मिली थीं। और यह दल तमिलनाडु विधानसभा में एक सषक्त रूप में उभरा था। इस दल से एक नया गुट उभरा तथा उसने अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (ए.आई.डी.एम.के.) बना लिला। जहॉ डी. एम. के. का उद्देष्य द्रविड़ परम्परा को बनाए रखना और द्रविड़ संस्कृति के उत्थान को बढ़ावा देना है। वहीं इसके कार्यक्रम में हिन्दी विरोध और राज्य के लिए स्वायत्ता की मॉग प्रमुख है। जबकि अन्ना द्रमुक की नीति केन्द्र के साथ सहयोग की रही। अनेक चुनाव इसने कांग्रेस के साथ मिलकर और राजग के गठबन्धन के रूप में लड़ा। इसका कार्यक्रम पिछड़े वर्गों के लिए समान अवसर, तमिल भाषा का प्रचार–प्रसार तथा जबरन हिन्दी लादने का विरोध है।

(5) तेलगू देषम

तेलगू देषम आंध्र–प्रदेष की एक क्षेत्रीय पार्टी है, जिसकी स्थापना 1982 में ही की गई थी। तब इस दल ने यह घोषणा की थी कि केन्द्र में तेलगू देषम किसी भी दल को अपना समर्थन देगी परन्तु राज्य में यह दल अपने कार्यक्रम के अनुसार कार्य करेगा। आरम्भ से ही यह दल एक मुख्य अल्पसंख्यक पार्टी रहा है। तमिलनाडु के क्षेत्रीय दलों की तरह इसने ब्राम्हण–विरोध या बौद्धिकता विरोधी रवैया नहीं अपनाया। तेलगू देषम ने भारत देषम की अवधारणा पर बहस के माध्यम से क्षेत्रीय छवि छोड़कर, राष्ट्रीय छवि हासिल करने की सरकार में षिरकत करके इसने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी मौंजूदगी की अभिलाषा को कार्यरूप दिया।

(6) समाजवादी पार्टी : (SP)

समाजवादी दल का गठन 1991 में समाजवादी जनता पार्टी से अलग होने के पष्चात् हुआ। यह राजनीतिक दल उत्तर प्रदेष में आधारित है। सामाजवादी पार्टी के मुखिया मुलायम सिंह, यादव उत्तर प्रदेष के मुख्यमंत्री और देष के पूर्व रक्षा मंत्री रह चुके हैं।

यह दल विषेष रूप से मुलायम सिंह यादव की अपनी यादव जाति और मुसलमानों पर आधारित है। यह दल लोकसभा और देष के अन्य राज्यों के विधानसभा चुनाव लड़ चुका है। हलॉकि इसकी सफलता मुख्य रूप से उत्तर प्रदेष में ही है।

(7) आम आदमी पार्टी (AAP)

आम आदमी पार्टी के गठन की आधिकारिक घोषणा 26 नवम्बर 2012 को भारतीय संविधान अधिनियम की 63वीं वर्षगॉठ के अवसर पर जंतरमंतर, दिल्ली में हुई थी। इस पार्टी की उत्पत्ति वर्ष 2011 में इंडिया अगेंस्ट करष्पन द्वारा अन्ना हज़ारे के नेतृत्व में चलाए गये जन लोकपाल आंदोलन के समापन के दौरान हुई ।

वर्ष 2013 के दिल्ली विधान सभा चुनावाअें में इसे 28 सीटेां पर जीत मिली। तत्पष्चात् पुनः 2015 में दिल्ली विधानसभा चुनाव हुए जिसमें पार्टी ने 70 में से 67 सीटें जीतकर भारी बहुमत हासिल किया। वर्ष 2014 में लोकसभा चुनाव के दौरान पार्टी ने पंजाब में चार सीटों पर विजय प्राप्त की।

4.2.5. भारत में क्षेत्रीय दलों का महत्व

1989 से विषेषतया क्षेत्रीय दलेां का महत्व बढ़ा है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है :

1. क्षेत्रीय दलों ने सार्वजनिक जीवन में क्षेत्रीय लोगों की सहभागिता बढ़ाई है।
2. इन दलों ने क्षेत्रीय स्तर पर क्षेत्रीय सरकार बनाने के तथा क्षेत्रीय स्तर पर सषक्त विपक्ष बनाने में महत्वपूर्ण कार्य किया है।
3. देष में सरकारी व सहयोगात्मक संघ बनाने में क्षेत्रीय दल के सहयोग को नही भुलाया जा सकता।
4. क्षेत्रीय दलों ने राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में सहायता की है। राष्ट्रीय राजनीति में इन दलों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।
5. क्षेत्रीय दलों की सकारात्मक भूमिका के कारण संघ राज्यों के तनावों में कमी आई है।

4.2.6. क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की बढ़ती उपादेयता तथा राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भागीदारी

वर्तमान राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण हो गयी है। भारतीय राजनीति में राज्य दलों का वर्चस्व 1967 क आम चुनावों के बाद से बढ़ने लगा है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के मंडलीकरण से उभरते नए नियम जाति सम्प्रदाय के नाम पर ध्रुवीकरण ने व्यवस्था का ढॉचा एवं विकल्पों में ही क्रान्तिकारी परिर्वतन कर दिया है। इनका प्रमुख उद्देष्य सत्ता प्राप्ति ही होता है। क्योंकि ये सभी एक

दूसरे को फुसलाने में व्यस्त हैं चाहे उनका गठन किसी भी परिस्थितियों में हुआ हो।

1967 के चुनावों तक कांग्रेस ही एकमात्र दल था जो केन्द्र व राज्येां में बेरोक शासन कर रहा था। 1967 के चुनावों के पष्चात् राज्यों में क्षेत्रीय दलों के उदय के फलस्वरूप अनेक राज्येां में गैर–कांग्रेसी सरकारें स्थापित होने लगीं। भारत की दलीय व्यवस्था की एक विशेषता साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीय दलों का बाहुल्य है।यद्यपि क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक माने जाते हैं, परन्तु 1989 से राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका इस मत को नकारती दिखलाई पड़ती है। वर्तमान में दलीय प्रणाली में नैतिक मूल्यों की गिरावट, अवसरवादिता एवं वोट की राजनीति का महत्व स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भारतीय राजनीति में काले धन का कुप्रभाव एवं बढ़ता हुआ राजनीतिक अपराधीरकण दलों में वैचारिक आधार की चूलें हिला दी हैं। 1996, 1998, 1999, 2004 के लोक सभा चुनावों के परिणामों से यह स्पष्ट हुआ है कि भारतीय राजीनति में इन क्षेत्रीय दलों की महत्वपूर्ण भूमिका है। समय के साथ ये क्षेत्रीय राजीनतिक दल उभरने लगे, परिणामस्वरूप क्षेत्रीय स्तर पर इन दलों ने अपने–अपने क्षेत्रों के विकास के लिए प्रयास तो किये ही साथ ही देष की राजनीति में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के साथ विषेष भूमिका भी निभाने लगे हैं। क्षेत्रीय दल क्षेत्रीय हितों की रक्षा के नाम पर या जाति व्यवस्था के नाम पर उदित होते हैं। और इसी कारण ये अपना प्रभाव राज्य में बनाने में सक्षम रहे हैं।

4.2.7. सारांष

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को क्षेत्रीय दल विभिन्न प्रकार से प्रभावित कर रहे हैं एवं उनका महत्व बढ़ता जा रहा है। चुनाव सुधार के विषय में भी ये बात लागू की जा सकती है कि क्षेत्रीय दल सिर्फ विधानसभा चुनाव लड़ने की लिए ही योग्य माने जाए और राष्ट्रीय पार्टियॉ ही सांसद का चुनाव लड़े ताकि सर्वव्यापी व सर्वमान्य सोच के नेता निकल कर आए और सब बातों से ऊपर उठ राष्ट्रीय चिन्तन के विषय पर काम किया जा सके। उनके बढ़ते महत्व एवं भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। इन दलों की सफलता एवं असफलता से इनकी प्रासंगिकता में कमी नहीं आई है। सरकार बनाने में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी है। तथा इनका विधानसभा की सत्ता में शामिल होना लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए उचित है।

4.2.8. संदर्भ

- के. बनर्जी, रीजनल पॉलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया,1984
- जी. गोपाकुमार, रीज़नल पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड स्टेट पॉलिटिक्स 1986.
- इकबाल नारायन, स्टेट पॉलिटिक्स इन इंडिया, 1978
- एन. डी. अरोड़ा राजनीति विज्ञान, मैकग्राहिल पब्लिकेषन (इंडिया) नई दिल्ली–2011.
- vle.du.ac.inwww.orfonline.org Pravakta.com/ the reginal Politicalparfies in india www-. essaysh india.com

4.2.9. अभ्यास प्रष्न

1. भारत में क्षेत्रीय दलों का स्वरूप एवं इसकी आधारभूत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. भारत के किन्हीं दो प्रमुख क्षेत्रीय दलों के बारे में विस्तार से चर्चा कीजिए।
3. वर्तमान भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–3 दबाव समूह जनमत एवं नागरिक समाज

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देष्य
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. भारत में दबाव समूहों का विकास
4.3.3. भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएं
4.3.4. दबाव समूहों का वर्गीकरण
4.3.4.1. संस्थात्मक दबाव समूह
4.3.4.2. समुदायात्मक दबाव समूह
4.3.4.3. असमुदायात्मक दबाव समूह
4.3.4.4. अकस्मात उत्पन्न होने वाले उपद्रवकारी समूह का प्रदर्षनकारी समूह
4.3.5. दबाव समूहों में दोष
4.3.6. जनमत की अवधारणा
4.3.7. जनमत की विशेषताएॅ
4.3.8. जनमत निर्माण के सिद्धान्त
4.3.9. जनमत का प्रभाव
4.3.10. नागरिक समाज का अर्विभाव
4.3.11. नागरिक समाज की विशेषताएॅ
4.3.12. लोक तन्त्र और नागरिक समाज
4.3.13. नागरिक समाज के समक्ष चुनौतियॉ
4.3.14. सारांष
4.3.15. संदर्भ
4.3.16. अभ्यास प्रष्न

4.3.0. उद्देष्य :

इस इकाई के अध्ययन के पष्चात् आप :

- भारत में दबाव समूहों के विकास एवं उसकी विशेषताओं की विवेचना कर सकेंगे;
- भारत में दबाव समूहों का वर्गीकरण कर सकेंगे;
- जनमत क्या है और इसकी विशेषताएॅ क्या हैं, ये स्पष्ट कर सकेंगे, और
- नागरिक समाज की विशेषताएॅ एवं इसके समक्ष आने वाली चुनौतियों के बारे में चर्चा कर सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

दबाव समूह शब्द का उद्भव संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। यह उन लोगों का समूह होता है जो कि सक्रिय रूप से संगठित होते हैं, अपने हितों को बढ़ावा देते है और उनकी प्रतिरक्षा करते हैं। ये सरकार पर दबाव बनाकर लोकनीति को

बदलने की कोषिष करते हैं। इनका काम एक तरह से सरकार और उसके सदस्यों के बीच संपर्क बनाने का होता है।

इन दबाव समूहों को हितैषी समूह भी कहा जाता है। ये राजनीतिक दलों से भिन्न होते हैं, ये न तो चुनाव में भाग लेते हैं और नहीं राजनैतिक शक्तियों को हथियाने की कोषिष करते हैं। ये कुछ खास मुद्दों से संबन्धित होते हैं। और इनकी इच्छा सरकार में प्रभाव बनाकर अपने सदस्यों की रक्षा व हितों को बढ़ाना होता है।

जनमत से अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों या निर्णयों से है, जो लगभग निष्चित हैं, जिनमें स्थिरता है और जो समाज के एक बड़े वर्ग के लोगों में समान रूप से स्थित होते हैं। जनमत सार्वजनिक समस्या से सम्बद्ध होता है। यह सामान्य जनता का मत होता है, किसी विषिष्ट व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का नहीं।

नागरिक समाज, आम शब्दों में, समूहों के एक ऐसे तंत्र और सम्बन्धों को रेखांकित करता है, जो कि राज्य के द्वारा प्रबंधित नहीं किए जाते। इनमें समाज की मुख्य समस्याओं को उजागर करने, वर्तमान मुद्दों को चिन्हित करने, पिछड़ों को सषक्त करने, योजनाबद्ध वार्ताओं में एक स्वतंत्र आवाज उठाने और नीति–निर्माण में विचारों के आदान–प्रदान करने की उम्मीद की जाती है।

इस इकाई में हम दबाव समूह और जनमत के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे। हम भारत में दबाव समूहों का विकास एवं नागरिक समाज की विशेषताओं व उसके समक्ष चुनौतियों की भी विवेचना करेंगे।

4.3.2. भारत में दबाव समूहों का विकास

वैचारिक विभिन्नता मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से पायी जाती है। जब एक ही शरीर की दसों उँगलियों में समानता नहीं होती तो मानव–मानव के बीच वैचारिक साम्यता का न पाया जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। परन्तु जब एक समान विचार वाले व्यक्ति अपने विचारों या आवष्यकताओं की पूर्ति करने हेतु एक संगठन बनाकर अपने उन समान उद्देष्यों या लक्ष्यों को पाने का प्रयास करते हैं तो इसी संगठन को हम समूह की संज्ञा देते हैं। आधुनिक जटिल समाजों में यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि समान हितों और स्वार्थों की रक्षा हेतु व्यक्ति अपने को समूह में संगठित कर लेते हैं– ऐसे समूहों को ही दबाव समूह या हित समूह कहा जाता है।

भारत में 19वीं शताब्दी से एक नई सभ्यता का उदय होने लगा था जिसके लिए सामूहिक जीवन के आधारों का होना नितान्त आवष्यक हो गया। भारत में विदेषी साम्राज्य के विरूद्ध उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना और एक नए लोकतांत्रिक भविष्य की संकल्पना के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में समाज–सुधार, आर्थिक उन्नति तथा राजनीतिक आवष्यकताओं के लिए अनेक समूह उभर कर आए। वर्ष 1985 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक 'हित समूह' अथवा राजनीतिक दबाव था, जिसका उद्देष्य राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ब्रिटिष सरकार से अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त करना था। ब्रम्ह समाज, प्रार्थना–समाज एवं भारत सेवक संघ की स्थापना भी समाज–सुधार के दबाव के रूप में हुई थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पष्चात् 1950 में भारत के अपने लोकतांत्रिक संविधान में नागरिकों के लिए भाषण एवं अभिव्यक्ति सभी को समुदाय एवं संघ करने एवं किसी प्रकार के व्यवसाय, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता का मौलिक

अधिकार सुनिष्चित किया गया तभी से वास्तविक रूप में दल–व्यवस्था हित–समूहों, स्वतन्त्र प्रेस तथा संचार के माध्यम को व्यावहारिक मान्यता प्राप्त हुई।

4.3.3. भारतीय दबाव समूहों की विशेषताएँ

हित–समूहों एवं दबाव समूहों के सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट कर देना आवष्यक है। हित समूह व दबाव समूह में अंतर होता है। हित समूह लोगों का वह संगठन होता है जो नागरिकों के विषेष हितों का प्रतिनिधित्व तथा प्रदर्षन करते हैं। दबाव समूह भी हित–समूह होते हैं, परन्तु वे सरकार पर दबाव डालने का भरपूर प्रयास करते हैं। प्रत्येक दबाव समूह, हित समूह होता है। परन्तु प्रत्येक हित समूह, दबाव समूह नहीं होता है। दबाव समूह की विशेषताओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

1. दबाव समूह का उद्देष्य सदैव सीमित होता है और इन समूहों की गतिविधियाँ केवल उस लक्ष्य की प्राप्ति तक ही सीमित रहती हैं।
2. इन समूहों का उद्देष्य सीमित होता है, इसलिए इनकी सदस्यता भी सीमित रहती है।
3. दबाव समूह संगठित भी हो सकते हैं और असंगठित भी।
4. दबाव अर्थात् हित समूह सत्ता प्राप्ति की इच्छा नहीं रखते।

4.3.4. दबाव समूहों का वर्गीकरण

देष के दबाव समूहों को व्यापारिक, श्रमिक, कृषक, धार्मिक, सामुदायिक तथा अनायास उत्पन्न होने वाले समूहों की श्रेंणियों में रखा जा सकता है।
आमण्ड पॉवेल ने मुख्य रूप से दबाव समूहों को चार वर्गों में रखा है, जो निम्नलिखित हैं–

1. संस्थात्मक दबाव समूह
2. समुदायात्मक दबाव समूह
3. असमुदायात्मक दबाव समूह
4. अकस्मात उत्पन्न होने वाले उपद्रव कारी समूह

4.3.4.1. संस्थात्मक दबाव समूह

यह आमण्ड द्वारा आविष्कृत एक नया वर्ग है। आमंड की खोज है कि शासन का कोई अंग उन आगतों को जन्म दे सकता है, जो कि निर्गतों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं; जैसे नौकरषाही के अधिकारी मन्त्रियों को प्रभावित कर सकते हैं।

यह दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधान मण्डल, प्रषासनिक सेवाओं, सार्वजनिक और सुरक्षा, शैक्षिक एवं वैज्ञानिक कार्मिक, सार्वजनिक सेवाओं के कर्मचारी इत्यादि संगठनों में सक्रिय रहते हैं। इसके औपचारिक संगठन होते है। ये अन्य समूहों के हितों के साथ अन्य सामाजिक हितों का भी प्रतिनिधत्व करते हैं।

4.3.4.2. समुदायात्मक दबाव समूह

इस श्रेणी में देष के वे सभी प्रमुख समूह सम्मिलित हेाते है, जिनके कई उद्देष्य होते है; जैसे–व्यापारियों, मजदूरों, किसानों व्यवसायियों आदि के संगठन। ये औपचारिक ढंग से गठित अधिकांषतः पंजीकृत निकाय होते हैं। इनके अपने विधान, गठन के नियम, गतिविधियों का लेखा–जोखा आदि हेाते हैं।

4.3.4.3. असमुदायात्मक दबाव समूह

ये ऐसे समूह है जो धर्म,जाति, रक्त–सम्बन्ध अथवा अन्य परम्परागत लक्षणों पर आधारित होते हैं। ये अनौपचारिक तथा असंगठित होते हैं। ये समय–समय पर प्रकट और विलुप्त होते रहते हैं। ये विष्व के पिछड़े देषों में देखे जा सकते हैं। ऐसे संगठनों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैंः मुस्लिम मजलिस, विष्व हिन्दू परिषर, बाबरी एक्षन कमेटी, जैन समाज, वैष्णव समाज, नैय्यर समाज, सिन्धी समाज आदि।

जातीय समुदायों का भारतीय समाज एवं राजनीति में अर्से से प्रयास रहा है। सामान्यतया समाज के विभिन्न वर्गों के लोग अपनी पहचान एवं हित–पूर्ति हेतु जातिगत समूहों का निर्माण करते हैं। सामान्यतया राजनीतिक हितों की प्राप्ति का आज की भारतीय राजनीतिक दलों में सहारा लेने का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है, भले ही समाज की संरचना पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता हो और राष्ट्रीयता की भावना का हनन होता हो। आज जाति का प्रभाव प्रत्याषी चुनने में मंत्रिमण्डल गठन में, मतदान करते समय सामान्य रूप से देखा जा सकता है।

4.3.4.4. अकस्मात् उत्पन्न होने वाले उपद्रवकारी समूह या प्रदर्षनकारी समूह

ये वे दबाव समूह होते हैं, जो अपनी मॉगों को लेकर गैर–संवैधानिक उपायों का सहारा लेतु हुए प्रदर्षनकारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही का मार्ग अपनाते हैं। इनमें, उल्फा (असम), जम्मू कष्मीर लिबरेषन फ्रन्ट, बब्बर खालसा, खालिस्तान, रणवीर सेना (बिहार), पीपुल्स वार ग्रुप आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार के दबाव समूह अपने उद्देष्यों की पूर्ति के लिए, हत्या, दंगे, हिंसा, सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुॅचाना, विरोध दिवस या काला दिवस मनाना आदि पर बल देते हैं।

4.3.5. दबाव समूहों में दोष

दबाव समूहों में पाए जाने वाले दोष निम्नलिखित हैं–

1. दबाव समूह संकीर्ण विचारधारा को बढ़ावा देते हैं जो शनैः–षनैः उपग्रन्थी विचारों को जन्म देते हैं और समाज आतंकवाद हिसां के दौर से गुजरता है।
2. ये समूह अनषन सत्याग्रह, हड़ताल जैसे अवैधानिक साधन अपनाते हैं जिससे कानून व्यवस्था भी प्रभावित होती है और राज्य अव्यवस्था एवं अराजकता की ओर बढ़ता है।
3. दबाव समूहों के कारण जातीयता, साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीयता जैसी घातक प्रवृत्तियॉ राष्ट्र के विकास में बाधाएँ पहुॅचाने लगती हैं।
4. इन समूहों पर विदेषी सहायता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है।
5. दबाव गुट अपने उद्देष्य की पूर्ति हेतु रिष्वत और धन देकर विधायकों को अपनी ओर करके अपने हितों में नीतियॉ बनवाते हैं।
6. भारत में इनकी कार्यषैली प्रायः गुप्त रखी जाती है। जन सामान्य को इसकी सूचना नहीं मिलती।

4.3.6. जनमत की अवधारणा

जनमत से अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारें या निर्णयों से है, जो लगभग निष्चित हैं, जिनमें स्थिरता है और जो समाज के एक बड़े वर्ग के लोगों में समान रूप से स्थित होते हैं। जनमत सार्वजनिक समस्या से सम्बद्ध होता है। यह

सामान्य जनता का मत होता है, किसी विषिष्ट व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का नहीं। लोकमत में यह शक्ति है जो किसी भी निरीह , शोषित और उत्पीड़ित समुदाय को समय आने पर विद्रोह का ध्वजवाहक और क्रांति का उद्घोषक बना देती हैं।

लोकमत या जनमत की परिभाषा और हमारे जीवन में इसके महत्व पर अनेक विद्वानों और मनीषियों ने अपने–अपने विचार प्रकट किये हैं, जो इस प्रकार है–

जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) के अनुसार, ''जनमत के नाम पर, या कानून द्वारा स्थापित व्यवस्था के आधार पर जनसाधारण से एक विषेष स्तर की व्यवहार और आचरण की अपेक्षा की जाती है। व्यवहार के यह मापदंड या तो स्वयं जनता तय करती है या समाज का सत्ताधरी वर्ग अपने प्रभाव से काम लेता है और उसका फैसला सम्बद्ध वर्गों की पसंद और नापसंद पर ही होता है जिसे जनमत की संज्ञा दी जाती है।''

मैकियावली (1469–1526), '' हम समझते हैं कि जब सरकारी नौकरियों या सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियें का प्रष्न विचाराधीन हो तो बुद्धिमत्ता इसी में हैं कि जनमत को पूरी तरह ध्यान में रखा जाए क्योंकि जब जनता जागरूक होती है तो वह कोई गलती नहीं होने देगी और अगर कोई गलती हो भी जाए तो यह बिलकुल नगण्य सी और क्षम्य भी होगी। जहॉ जनमत का सत्कार होता है; वहॉ किसी प्रकार की धांधली नहीं हो सकती।

जनमत की सृष्टि व्यक्तिगत इकाइयों के आधार पर होती है। किसी व्यक्ति के विचारों का निर्माण उसके जन्मजात गुण–दोषों, सामाजिक परिस्थतियों, निजी योग्यताओं, विफलताओं–सफलताओं और आषाओं – कुंठाओं के आधार पर होता है। इसलिए प्रचार ऐसे ढंग से कराना आवष्यक है जो विभिन्न रूचियों और स्वभाव रखने वाले व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके।

4.3.7. जनमत की विशेषताएँ

जनमत की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार है–

1) जिस प्रष्न या समस्या पर जनमत का अध्ययन अपेक्षित है वह इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष होना चाहिए कि सम्बद्ध वर्ग अथवा जनसमुदाय उसका अस्तित्व तुरन्त स्वीकार कर लें।

2) जनमत समाज के मौलिक घटकों (व्यक्तियों) की प्रतिक्रियाओं का प्रस्तुतिकरण है। वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी–अपनी सम्मति का एक समान मूल्य है।

3) अगर हम जनमत को देखें तो उसके दो रूप हमारे सामने आते हैं– प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप में जब हम अनुभव करते हैं कि हमारी कथनी–करनी को दूसरे सभी देखते हैं; तो ऐसे में हम सोच–समझकर किसी प्रष्न पर अपना मत प्रकट करते हैं।

दूसरा रूप अप्रत्यक्ष जनमत हैं, जिसमें हम अपने आप में ही अप्रत्यक्ष रूप से किसी विचार को प्रकट करते हैं। यह भी आवष्यक नहीं है कि हम किसी को बताए कि हमने क्या सोचा है?

4) प्रचार के लिए आवष्यक है कि जनमत लिखित अथवा मौखिक रूप या प्रतीकों द्वारा व्यक्त हों। अव्यक्त भावनाएँ चाहे कितनी भी गहरी हों, जनमत के मूल्यांकन के लिए हैं, क्योंकि प्रायः उनके अस्तित्व को संदिग्ध माना जाता हैं।

4.3.8. जनमत निर्माण के सिद्धान्त

रूस के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार तुर्गनेव ने कहा था कि ''मानव मस्तिष्क किसी भी रहस्य का उद्घाटन कर सकता है, मानव ने अंतिरिक्ष की ऊँचाइयों को माप लिया है और उसने सूर्य मंडल तक अपनी जानकारी का विस्तार कर लिया है, लेकिन वह अपने आचरण को ही नहीं जान पाया है।''

व्यक्तिगत रूप से मानव आचरण में सब प्रकार के गुण दोष की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे व्यक्ति एक ही परिवार घर या शहर में मिल सकते हैं। सुनिष्चित रूप से यह कहना कठिन है कि एक ही जलवायु और अन्न–भोजन का सेवन करने वाले दो व्यक्तियें में से एक अच्छा नागरिक और दूसरा अपराधी क्यों बन जाता है? हम जब 'राम' का स्मरण करते हैं । तो रावण का ज़िक्र किए बिना नहीं रह सकते।

जनमत को रेखांकित करने के लिए विद्वानों ने कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

(1) अगर आप समझते हैं कि अधिक संख्या में श्रोता आपके विरोधाी हैं, तो समझ–बूझ से काम लें। जहॉ तक हो सके उनसे टकराव या झगड़ा मोल न लें क्योंकि आपके भाषण के दौरान अगर कोई गड़बड़ हुई तो नुकसान आपका है, आप अपनी बात नहीं कह पाएँगे।

(2) यह ज़रूरी नहीं जो कुछ आप कहें सब सच्चाई ही सच्चाई हो। ज़रूरी यह है कि जनता को ष्विास हो जाए कि जो कुछ आप कह रहे हैं वह सच है।

(3) प्रोपेगण्डा में भी एक युद्ध की तरह चालें चली जाती हैं जो भी किया जाए, शत्रु या विरोधी के लिए इतना अप्रत्याषित हो कि वह हैरानी या परेषानी में निष्क्रिय हो जाए।

उपरोक्त सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि जनता से जनमत हासिल करने के लिए जनता से लोक सम्पर्क बड़ी स्पष्टता से किया जाना चाहिए। लोक सम्पर्क उद्देष्य परक होना चाहिए, सहनषीलता और सरलता से किया जाना चाहिए।

4.3.9. जनमत का प्रभाव

जनमत के विष्लेषण में यह अवष्य देखा जाता है कि अपनी बात मनवाने के लिए व्यक्ति या समुदाय की भावना कितनी प्रबल, गहरी, सषक्त अथवा सक्षम है। यदि इसके लिए कोई आन्दोलन या संघर्ष करना पड़े तो उसके लिए वह कहॉ तक तैयार है। यही कारण है कि संगठन और चेतना के अभाव में अनेक बार समाज सुधार के लिए उठाए गए महत्वपूर्ण कदम भी धरे के धरे रह जाते हैं।

हमारे देष में अस्पृष्यता निवारण कानून लागू है। किसी के साथ छुआछूत का बर्ताव करना अपराध घोषित किया जा चुका है। फिर भी हम विष्वास पूर्वक नहीं कह सकते अस्पृष्यता के अभिषाप से हमारा समाज सर्वथा मुक्त हो चुका है। यह स्थिति इसलिए है कि हमारे देषवासियों ने अस्पृष्यता निवारण के सिद्धान्त को

स्वीकार करते हुए भी इस सिद्धान्त के अनुसार क्रियात्मक रूप से कुछ करने का पूरा–पूरा साहस नहीं दिखाया है।

कोई भी दल, नेता या नेताओं के बिना खड़ा नहीं हो सकता क्योंकि प्रभाव रखने वाले सुयोग्य व्यक्ति ही किसी कार्यक्रम को सफल बना सकते हैं। अधिकार पूर्वक तो यह नहीं कहा जा सकता कि जनमत द्वारा स्वीकृत कोई कार्यक्रम सफल होगा कि नहीं, क्योंकि जनमत विज्ञान अन्य विज्ञानों जैसे गणित, भौतिकी आदि के समान यथातथ्य विज्ञान नहीं है। यह तो राजनीति या अर्थषास्त्र की तरह आकर्षक विज्ञान है।

4.3.10. नागरिक समाज का अविर्भाव

नागरिक समाज का अर्थ समकालीन परिदृष्य में, एक ऐसे ष्क्षेत्र के रूप में विकसित हो रहा है जो कि राजनीतिक या बाजार क्षेत्रों से अलग है।

नागरिक समाज, आम शब्दों में, समूहों के एक ऐसे तंत्र और सम्बन्धों को रेखांकित करता है, जो कि राज्य के द्वारा प्रतिबन्धित नहीं किये जाते। इनसे समाज की मुख्य समस्याओं को उजागर करने, वर्तमान मुद्दों को चिन्हित करने, पिछड़ों को सषक्त करने, योजनाबद्ध वार्ताओं में एक स्वतंत्र आवाज उठाने, और नीति–निर्णण में विचारों के आदान–प्रदान करने की उम्मीद की जाती है।

अरस्तू और सिसरों के समय से, जॉन लॉक और दूसरे विचारकों के राजनीतिक पर्दे पर आने तक, नागरिक समाज, राजनीति समाज और राज्य को अन्तर्बदल रूप में देखा जाता रहा। वास्तविक रूप में, नागरिक समाज एक यूरोपीय विचारधारा है। नागरिक समाज का प्रारम्भिक विकास, एक गैर राजनीतिक अवधारणा के रूप में 18वीं शताब्दी की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितिकी और दल से जुड़ा हुआ है, क्योंकि इस काल में राजाओं की सत्ता और शक्ति 'असेम्बली' को मिल गयी थी।

नागरिक समाज का अर्विभाव, जिसमें विभिन्न विचारधाराऍं भी शामिल है, राज्य और बाज़ार से उसके संबंधों के आधार पर उसके अर्थ और क्षेत्र को स्थापित करता है। इसलिए नागरिक पर कोई भी चर्चा, उसके राज्य और बाज़ार के सम्बन्धों पर दृष्टि के बिना अधूरी है। यह सब एक–दूसरे को परिभाषित व सीमित करते हैं।

4.3.11. नागरिक समाज की विशेषताऍं

नागरिक समाज की पॉच प्रमुख विशेषताऍं निम्नलिखित हैं–

1. नागरिक समाज और राज्य एक–दूसरे के इस प्रकार सम्बन्ध होते हैं कि राज्य पर नियंत्रण या जीत की ज़रूरत नहीं होती नागरिक समाज का लक्ष्य होता है कि संगठनों के रूप में शक्ति का अधिग्रहण करने के बजाए शक्ति की संरचना में सुधार लाना।
2. नागरिक समाज का निजी लक्ष्यों की अपेक्षा सार्वजनिक लक्ष्यों से सम्बन्ध होता है।
3. नागरिक समाज किसी व्यक्ति या समुदाय के हितों के पूर्ण स्वरूप का प्रतिनिधित्व करना नहीं चाहता है। विभिन्न संगठनात्मक सम्बन्धों वाले

व्यक्तियों तथा विभिन्न संगठनों का आधिक्य स्वस्थ नागरिक समाज के काम–काज का स्पष्ट संकेत है।

4. नागरिक समाज बहुवाद तथा बिविधता के आयाम को समाहित करता है। कोई संगठन जो एकाधिकारवादी की तरह शक्ति पर एकाधिकार करना चाहता है और राजीनतिक जगह को कब्ज़े में लेना चाहता है।
5. डायमण्ड के मतानुसार नागरिक समाज नागरिक समुदाय की विशेषताओं को बढ़ाने वाला है और यह स्पष्ट रूप से उससे भिन्न होना चाहिए। इस संदर्भ में इस बात पर अधिक जोर दिए जाने की आवष्यकता है कि ''एक नागरिक समुदाय के निर्माण की कुंजी स्पष्ट रूप से सार्वजनिक या राजनीतिक उद्देष्य है या कोई संगठन हैं?

(VI) लोकतंत्र और नागरिक समाज

लोकतंत्र और नागरिक समाज एक–दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। स्वस्थ उदारवादी लोकन्त्र के लिए ऐसी जनता के समर्थन की आवष्यकता है जो 'लोकतन्त्र' के लिए संगठित है उसके सिद्धान्तों तथा मूल्यों के लिए समाजीकृत है तथा केवल लुभावने संकीर्ण हितों मात्र के लिए ही बचनबद्ध नहीं है बल्कि अपेक्षाकृत बड़े, सामान्य नागरिक उद्देष्य के लिए बचनबद्ध है।

डायमण्ड ने कुछ दषाएँ निर्धारित की है, उन्हें लोकतन्त्र के निर्माण कार्यों के लिए पूरा करने के वास्ते, नागरिक समाज के लिए निर्धारित शर्तो को पूरा करना होगा। पहला यदि नागरिक समाज में अधिकतमवादी समझौता न करने वाले तथा लोकतन्त्र विरोधी लक्ष्येां और तरीकों के साथ समझौता न करने वालों के साथ नहीं है तो फिर लोकतन्त्र के लिए अच्छी संभावना है। दूसरा, मजबूत नागरिक समाज की एक अन्य विशेषता है जिसे डायमण्ड ने कहा है ''संगठनात्मक, संस्थागत संस्थानीकरण का स्तर।:: जैसा कि वह तर्क देता है। जहॉ हित संरचनाबद्ध, स्थिर तरीके से संगठित है, सहकारी तंत्र की वृद्धि तथा सौदेबाजी करने की सुविधा होती है। तीसरा अन्य प्रमुख आवष्यकता है संगठनेां का ''आंतरिक लोकतांत्रिक'' स्वरूप जिसे ''निर्णय करने वाले नेतृत्व, चयन, जवाबदेही और पारदर्षिता'' द्वारा परिभाषित किया गया है।

4.3.12. नागरिक समाज के समक्ष चुनौतियॉ

नागरिक समाज की विकृतियों की पुनरावृत्ति के संदर्भ में, यह चिन्हित किया जा सकता है कि नागरिक समाज वैचारिक रूप से सुदृढ़ नहीं है, और इसी कारण से उसके अर्थ, स्वरूप एंव क्षेत्र के बारे में विभिन्न अवधारणाएँ प्रचलन में रही है।

नागरिक समाज अपने आप में, जैसा कि नीरा चण्ढोक ने (2004) रेखांकित किया है, किसी भी टोलियोलॉजिकल विशेषता को नहीं लिए हुए हैं, जब तक कि नागरिक समाज के क्षेत्र पर पूछताछ (Interrogation) शामिल नहीं होती है।

राज्य के पीछे हटने के मुद्दे का कोई मूल्य नहीं है, जब तक कि इसमें नागरिक समाज द्वारा उत्पीड़न का विखंडन शामिल न हो। नागरिक समाज की राज्य को पूर्ण नियंत्रण से रोकने की क्षमता ज़रूरी है, पर यह लोकतंत्र के लिए पूर्ण व संतुष्टि वाली स्थिति नहीं है। नागरिक समाज की भागीदारी, विचार–विमर्ष,

संवाद, विवाद एवं संषर्ष संबन्धित क्षेत्र इस बात का संकेत नहीं है कि आम जनता की क्षमताएँ भी बढ़ गई है।

एक चुनौती के रूप में, नागरिक समाज के निर्माण में संचार माध्यमों को भी देखा जाना चाहिए। यह देखा गया है कि सकारात्मक भूमिका के स्थान पर संचार माध्यम कई बार ज़रूरी मुद्दो पर झूठ का आवरण चढ़ा देते हैं। संचार, भारत जैसे देषों में, अपने ग्राहकों को संयुक्त पहचान और लोक कार्यों में भागीदारी का एक अहसास तो दे देता है परन्तु उसी समय पर महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चाएँ कम कर देता है और उन्हें व्यंग्यचित्र बना देता हैं यह लोगों को आपस में जोड़ तो देता है, लेकिन उन्हें पूर्ण सूचना से विहीन रख छोड़ता है।

4.3.13. सारांष

भारत में दबाव समूहों की यदि हम बात करें तो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है। सामूहिक एवं सामुदायिक हित, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया में जीवन संचार करने का काम करते हैं। व्यावसायिक समूह प्रेस और धनी किसानों के पास अपने मजबूत सांगठनिक आधार हैं जबकि मजदूर, छोटे किसान, छात्र और औरतों के समूह सांगठनिक दृष्टि से राजनीतिक दलों और अन्य संगठनों पर निर्भर है, इनकी क्रिया प्रणाली पर इन राजीनतिक पार्टियों की छाप स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है।

जब किसी लोकतांत्रिक देष के समक्ष कोई विषेष प्रकार की समस्या या कोई बिन्दु उपस्थित होता हैं, तो सभी पक्षों द्वारा विचार–विमार्ष के पष्चात् उस मुद्दे पर एक निष्चित दृष्टिकोण एवं कुछ धारणाएँ बन जातीं हैं तथा समाज का एक बहुत बड़ा भाग उनमें किसी एक धारणा को समर्थन करने लगता है तथा यही धारणा बहुत मिलने के कारण जनमत का रूप धारण कर लेती है। लोकमत निर्माण में विभिन्न साधन सहायक के रूप में कार्य करते है, जो जनमत निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

नागरिक समाज को वस्तुतः 'षासन' व विकास में, राज्य एवं बाजार के साथ अंतरसम्बधों पर आधारित एक प्रभावित भमिका निभाने की आवष्यकता है। इस इकाई में नागरिक समाज के विकास, उसकी विशेषताएँ और उसके समक्ष चुनौतियों के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसके साथ कुछ संवेदनषील मुद्दों और नागरिक समाज की भूमिका की भी चर्चा की गयी है।

4.3.14. संदर्भ

- जे. सी. जौहरी; काम्परेटिव पालिटिक्स; स्टलिंग, नई दिल्ली, 1972
- ए. सी. सिंघल, भारतीय शास्त्र एवं राजनीति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2004
- www.scotbuzz. org.
- सी. बी. गेना, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ, मॉडर्न प्रिन्टर्स 1978.
- चण्ढोक नीरा, 2004, द कनसीट्स ऑफ सिविल सोसाइटी (The Conceits of Civil Seciety), ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

- विष्वनाथ कल्पना, 2003, 'डिस्पेअर एण्ड होप' (Despair and Hopc), द हिन्दू, 9 मार्च
- www. undp. org. ib/prrtbers/civil.html.

4.3.15. अभ्यास प्रष्न

(1) भारतीय दबाव समूह की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
(2) भारत में दबाव समूहों के विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखे।
(3) दबाव समूहों का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।
(4) जनमत निर्माण के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
(5) नागरिक समाज की विशेषताएँ एवं उसके समक्ष आने वाली चुनौतियों के बारे में विस्तार से समझाइए।

खण्ड–4 दलीय व्यवस्था एवं चुनाव
इकाई–4– चुनाव एवं चुनावी व्यवहार, चुनाव आयोग और चुनाव सुधार

इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देष्य
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. लोकतन्त्र में चुनाव व्यवस्था
4.4.3. भारतीय चुनाव – व्यवस्था एवं प्रक्रिया
4.4.3.1. मतदान व्यवहार
4.4.3.2. मतदान व्यवहार को प्रभाावित करने वाले कारक
4.4.4. चुनाव व्यवस्था के दोष
4.4.5. चुनाव आयोग
4.4.6. चुनाव सुधार
4.4.6.1. चुनाव प्रणाली में बदलाव
4.4.7. सारांष
4.4.8. संदर्भ
4.4.9. अभ्यास प्रष्न

4.4.0 उद्देष्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पष्चात् आप :

- लोकतन्त्र में चुनाव की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे;
- भारतीय चुनाव व्यवस्था एवं प्रक्रिया को समझा सकेंगे;
- भारत में चुनाव आयोग के गठन एवं कार्यो के बारे में विस्तार से चर्चा कर सकेंगे,और
- चुनाव सुधार तथा चुनाव–प्रणाली में बदलाव को समझ सकेंगे।

4.4.1. प्रस्तावना

संसार में अनेक प्रकार की शासन व्यवस्थाएॅ प्रचलित हैं। उनमें से लोकन्त्र या जनतंत्र एक ऐसी व्यवस्था का नाम है, जिसमें जनता के हित के लिये, जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि ही सारी व्यवस्था का संचालन किया करते हैं। इसी कारण जिन देषों में इस प्रकार की सरकारों की व्यवस्था है, राजनीतिक शब्दावली में उन्हें लोक कल्याणकारी राज्य और सरकार कहा जाता है। यदि जनता द्वारा निर्वाचित सरकार लोक कल्याण के कार्य नहीं करती, तो उसे अधिक से अधिक पॉच वर्षो के बाद बदला भी जा सकता है। पॉच वर्षो में एक बार चुनाव कराना लोकतंत्र की पहली और आवष्यक शर्त है। चुनाव में प्रत्येक मतदाता अपनी इच्छानुसार अपने मत का प्रयोग कके इच्छित व्यक्ति को जीत दिला सकता है और अनिच्छित व्यक्ति को पराजित कर सकता है। इस प्रकार लोकतन्त्र में चुनाव की व्यवस्था होने के

कारण प्रत्येक नागरिक परोक्ष रूप से सत्ता और शासन के संचालन में भागीदारी निभाता है।

चुनाव एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से एक आधुनिक राज्य अपने नागरिकों में सार्वजनिक मामलों में भागीदारी का भाव उत्पन्न करता है। एक अच्छी चुनाव प्रणली ही वास्तविक प्रतिनिधि सरकार की आधार–षिला है। काफी कुछ इस बात पर निर्भर करता हैं कि व्यवहार में यह प्रणाली किस प्रकार चलती है, क्या राजनीतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त सक्षम एव सदचरित प्रषासकगण चुनावों को कुषलतापूर्वक और निष्पक्ष रूप से करवाते हैं। मतपत्र के फैसले में व्यापक विष्वास का अभाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया में जनता की आस्था को घ्वस्त कर सकता है।

4.4.2. लोकतन्त्र में चुनाव व्यवस्था

चुनाव लोकतंत्र का आधार स्तम्भ है। चुनाव सरकार में शासनकारी अभिजात्यों को चुनने व बदलने के साथ–साथ एक नियमित एवं योजनाबद्ध उत्तराधिकार प्रदान करने के लिए भी बुनियादी क्रियाविधि के रूप में काम आते हैं। वे यह निर्धारित करने में मदद करते हैं कि देष किस प्रकार शासित हो, और साथ ही उनका चयन करते हैं जो राज्य सत्ता का प्रयोग करेंगे। चुनाव–व्यवस्था न केवल पार्टी गतिविधियों को मज़बूती प्रदान करती है और जनसाधारण की राजनीतिक जागरूकता को बढ़ाती है बल्कि यह मतदाताओं को षिक्षित भी करती है और सरकार को वैधता प्रदान करती है।

यद्यपि चुनाव लोकतांत्रिक राजनीति में मुख्य संस्थाओं में से एक माने जाते हैं, उनका दुरूपयोग कोई असामान्य बात नहीं। सभी प्रकार के नेताओं, फौजी तानाषाह से लेकर असैनिक अधिनायकों तक, शासन करने हेतु वेधता प्रदान करने में चुनावें की शक्ति और महत्व को मान्यता देतें हैं। गैर–लोकतान्त्रिक तरीकों से देष को चलाने के इच्छुक नेतागण सत्ता में बने रहने के लिए चुनावों को एक हथियार के रूप में प्रयोग करते हैं। ये सभी लोक चुनावों में चालबाज़ी करने के लिए बड़े–बड़े प्रयास करते हैं फिर भी, किसी चुनाव व्यवस्था में असंगतियें के बावजूद ये चुनाव, किसी राज्य व्यवस्था में मुख्य मुद्दों को तय कर सकते हैं। चुनाव व्यवस्था के द्वारा ही वैध राजनीतिक सत्ताा नीचे से ऊपर प्रवाहित होती हे अतः लोकतंत्र के लिए चुनाव अनिवार्य है, परन्तु से चुनाव तभी सफल हेा पाऍगे जब वे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तथा कुरीतियों एंव अनियमितताओं से रहित हों।

4.4.3. भारतीय चुनाव–व्यवस्था एवं प्रक्रिया

भारत एक लोकतांत्रिक देष है। यहॉ पर आम तौर पर हर पॉच वर्ष में चुनाव होता है बहुमत के आधार पर सरकार का गठन होता हैं चुनाव एक वृहत्तर राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा है, जिसमें, नामांकन, चुनाव– अभियान और मतदान शामिल है। संक्षेप में, उन सभी साधनों को जिनके द्वारा कोई व्यक्ति एक निर्वाचित सभा का सदस्य बनता है, चुनावी प्रक्रिया का नाम दिया जा सकता हैं।

भारतीय लोकतंत्र में चुनाव प्रक्रिया के अलग–अलग स्तर हैं लेकिन मुख्य तौर पर संविधान में पूरे देष के लिए एक लोकसभा तथा पृथक–पृथक राज्यों के लिए अलग विधानसभा का प्रावधान है। भारतीय संविधान के भाग 15 में अनुच्छेद 324 से अनुच्छेद 329 तक निर्वाचन की व्याख्या की गई है। अनुच्छेद 324 में निर्वाचनों का अधीक्षण, निदेषन और नियंत्रण का निर्वाचन आयेाग में निहित होना

बताता है। संविधान ने अनुच्छेद 324 में ही निर्वाचन आयोग को चुनाव सम्पन्न कराने की ज़िम्मेदारी दी है।

लोक सभा के कुल 543 सीटों में से विभिन्न राज्यों से अलग–अलग संख्या में प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इसी प्रकार अलग–अलग राज्यों की विधान सभाओं के लिए अलग–अलग संख्या में विधायक चुने जाते हैं। नगरीय निकायों में चुनाव राज्य निर्वाचन आयेाग की देखरेख में होता है, जबकि लोकसभा और विधान सभा चुनाव भारतीय निर्वाचन आयोग के नियंत्रण में होते हैं। लोकसभा तथा विधान सभा दोनों का ही कार्यकाल 5 वर्ष का होता है।

4.4.3.1. मतदान व्यवहार

चुनाव एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज व राज्य–व्यवस्था के बीच तथा पारंपरिक सामाजिक व्यवस्थाओं और उत्पन्न होते राजनीतिक दृष्किोणों के बीच एक सेतु का काम करती है। चुनाव प्रक्रिया सामान्य रूपों में लोकतन्त्र के सिद्धान्त की पुष्टि करती है साथ ही साथ भारतीय लोकतनत्र के स्तंभों को मजबूती भी प्रदान करती है।

मतदान निर्णय लेने या अपना विचार प्रकट करने की एक विधि है जिसके द्वारा कोई समूह विचार–विनिमय तथा बहस के बाद कोई निर्णय ले पाते हैं। मतदान की व्यवस्था के द्वारा किसी वर्ग या समाज का सदस्य राज्य की संसद या विधानसभा में अपना प्रतिनिधि चुनने या किसी अधिकारी के निर्वाचन में अपनी इच्छा या किसी प्रस्ताव पर अपना निर्णय प्रकट करता है। इस दृष्टि से यह व्यवस्था सभी चुनावों तथा सभी संसदीय या प्रत्यक्ष विधि निर्माण में प्रयुक्त होती है। जनतंत्रात्मक सरकार में ही मतदान को प्रमुख क्षेत्र तथा महत्व प्राप्त होता है।

4.4.3.2. मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक

भारत में जाति–संघ सामाजिक क्रम–परम्परा में अपनी जाति की प्रतिष्ठा को बढ़ाने हेतु शैक्षिक सेवा व अन्य सुविधाएँ सुनिष्चित करने के प्रयास में संस्कृतिकरण के एजेन्टों के रूप में स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले ही जन्म ले चुके थे। परन्तु अब वे आर्थिक के साथ–साथ राजनीति के क्षेत्र में भी दबाव समूहों की भूमिका से जुड़ गये हैं। जाति वर्गो ने लोगों को उनके अधिकारों एवं विषेषाधिकारों के प्रति जागरूक किया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से जाति का राजनीतिकरण एक ऐसी स्थिति में पहुॅच चुका है जहॉ न सिर्फ मतदाताओं द्वारा किसी प्रत्याषी के पक्ष में फैसला करने के लिए जाति को ही मुख्य मुद्दो मे ंसे एक माना जाता है।

भारतीय समाज की सबसे बुनियादी हकीकत है अत्यधिक गरीबी। भारतीयों का एक विषाल जनसमुदाय बेरोजगार और अल्परोजगार प्राप्त है। साक्षरता दर बहुत कम है। गरीबी रेखा के नीचे और उससे कुछ ही ऊपर रहने वाले यह बहुसंख्यक लोग हैं जिनका भारत के चुनावों में प्रमुख मत–योगदान होता है। गरीब, अनपढ़, केवल जाति अथवा धर्म से सम्बद्ध हाने की समझ रखने वाली अन्धविष्वासी और आवसरिक रूप से सरकार–संचालित प्रसारण व्यवस्था को छोड़कर उचित संचार–माध्यम तक पहुॅच न रखने वाले लोगों की इस दीर्धाकार मानव–लहर को जब तब अपनी परम इच्छा रूपी वोट को डालने मतदान केन्द्रो की ओर खदेड़ा जाता है।

चूंकि भारतीय जन–साधारण राजनीतिक रूप से निरक्षर रहा है, जाति संघटन के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन बन गयी हैं। अपने–अपने वर्ग हितों के लिए

जाति निष्ठाओं का उनके अपने जाति–अभिजात्यों द्वारा अनुचित लाभ उठाया जाता है।

4.4.4. चुनाव –व्यवस्था के दोष

ब्रिटिष चुनाव प्रणाली पर आधारित हमारी चुनाव प्रणाली में सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले प्रत्याषी को ही विजयी घोषित किया जाता है। ब्रिटेन से पूर्णतः भिन्न भारत के अनेक धर्मो, भाषाओं तथा संस्कृतियों के फलस्वरूप हमारी चुनाव प्रणाली देष में प्रतिनिधित्वमूलक लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने में पूर्णतः असफल रही है। यही नहीं, 1857 के वक्त प्रचलित समाज की एकता को इस प्रणाली ने पूर्णतः खण्डित करने का कार्य तो किया ही है, वरन देष में व्यापत भ्रष्टाचार तथा राजनीति के अपराधीकरण के मूल में यही चुनाव प्रणाली रही है। यह प्रणाली विभिन्न प्रकार के अनुचित माध्यम अपनाकर जवाबदेही रहित सत्ता प्राप्ति का माध्यम भर बनकर रह गयी है।

चुनाव व्यवस्था की अनेक कमियों का लाभ उठाते हुए नए–नए राजनीतिक दल कुकुरमुत्तों की तरह पैदा होते रहे हैं अतः चुनाव प्रणली में अमूलचूत परिवर्तन अति आवष्यक है। यह भी देखा गया है कि चुनावों के माध्यम से एक नई प्रकार की ज़मीदारी व्यवस्था पनप रही है। इस प्रकार की नई जमींदारी व्यवस्था से बचाने के लिए किसी भी एक पद के लिए किसी भी व्यक्ति को सिर्फ 2 या 3 बार ही प्रत्याषी बनने का अधिकार होना चाहिए।

भारतीय चुनाव–प्रणाली की कार्यषैली ने अनेक दोषों व दुराचारें का सामना किया है। किसी पार्टी के लिए डाले गये वोटों और संसद में जीती गयी सीटों के बीच विसंगति, राजनीतिक दलों की बहुलता, दलीय–व्यवस्था में व्यक्ति–पूजा, जातीय व साम्प्रदायिक निष्ठाओं का शोषण, मांसल व धनषक्ति की भूमिका, सरकारी तंत्र का दुरूपयोग, मतदान–केन्द्र पर कब्जा, मतदाताओं को डराना–धमकाना व नकली मतदाता बनकर धोखा करना जेसे कपटपूर्ण कार्य भारतीय चुनाव प्रणाली के मुख्य दोष है।

4.4.5. चुनाव आयेाग

भारत में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव के लिए स्वायत्त एवं निष्पक्ष चुनाव आयेाग का प्रावधान किया गया है। चुनाव आयेाग एक संवैधानिक संस्था है। इसका मुख्य कार्य भारत में स्वतंत्र व निरपेक्ष चुनाव कराना है। इसकी स्थापना संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत 25 जनवरी, 1950 को हुई थी। अनुच्छेद 324 (2) में निर्वाचन आयोग के संगठन की चर्चा की गयी है। पहले एक सदस्यीय था, परन्तु वर्ष 1993 ये यह तीन सदस्यीय निकाय बन गया। निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्त (जिसकी संख्या समय–समय पर राष्ट्रपति नियत करेंगे) होगे। अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की स्थिति में मुख्य चुनाव आयुक्त, चुनाव आयोग के अध्यक्ष के रूप में काम करेगा (अनुच्छेद 324 (3)। राष्ट्रपति, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति करता है।

निर्वाचन आयेाग में मुख्य चुनाव आयुक्त की स्थिति केवल निर्वाचन आयेाग के सभापति जैसी है। संविधान स्पष्ट करता है कि चुनाव आयोग में निर्णय लेने

की दृष्टि से सभी आयुक्तों (मुख्य चुनाव आयुक्त सहित) की शक्तियॉ एक जैसी होंगी। मुख्य चुनाव आयुक्त आयोग रूपी बहुसंख्यक संस्था का सभापति हैं, आयोग अथवा अन्य आयुक्तों का स्वामी नहीं है।

चुनाव आयोग के कार्य

चुनाव आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है :

(1) निर्वाचन प्रक्रिया का संचालन करना।
(2) देष में सभी मुख्य चुनावों हेतु निर्वाचन–नामावली तैयार करना।
(3) निर्दलीय उम्मीदवारों व राजनीतिक दलों के चुनाव चिन्ह निष्चित करना।
(4) अनियमितताओं के आधार पर चुनाव रद्द करना।
(5) राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्रदान करना।
(6) चुनाव के दौरान कर्मचारियों व अधिकारियों की नियुक्तियॉ करना।
(7) स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव हेतु नियम बनाना।
(8) राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करना तथा चुनावें से जुड़ी सिफारिषें व सुझाव देना।

एक लम्बे समय से चुनाव सुधारों की वकालत करने वाले मूल प्रस्तावों में एक था चुनाव आयेाग को एक बहु–दलीय निकाय बनाने सम्बन्धी प्रस्ताव। तार्कुण्डे और गोस्वामी समितियें ने तीन–सदस्यीय चुनाव आयेाग का समर्थन किया। अधिकतर मुख्य चुनाव–आयुक्तों ने इसका विरोध किया। बहरहाल, जिस तरह से चुनाव आयुक्त नियुकत किये जाते हैं और अुच्छेद 324–ए के तहत बहुमत–निर्णय का प्रावधान है यह संदेह पैदा होता है कि कार्यकारी निर्वाहक इतनी संख्या में चुनाव आयुक्त नियुक्त कर सकता है जितने कि बहुमत तैयार करने के लिए पर्याप्त हों और इस प्रकार वह आयेाग के निर्णय पर नियंत्रण रख सकता है।

4.4.6. चुनाव –सुधार

चुनाव लोकतांत्रिक शासन का आधार है। स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव–व्यवस्था लोकतंत्र को स्थायित्व और परिपक्वता प्रदान करती है। काफी लम्बे समय से देष में चुनाव सुधारों की मांग की जाती रही। चुनाव के दौरान अपनाए जाने वाले भ्रष्ट तरीकों को समाप्त करने का प्रष्न सरकार के समक्ष काफी समय से विचाराधीन रहा। संसद, सरकार एवं विपक्ष द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों एवं आयोगों ने इस दिषा में कई प्रयास कियें। 1974 में 'सिटिजन्स फॉर डेमोक्रेसी' (Citizens for democaracy) के अध्यक्ष को हैसियत से जयप्रकाष नारायण ने चुनाव सुधारों के लिए न्यायमूर्ति वी. एम. तार्कुण्डे की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट फरवरी 1975 में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर जय प्रकाष जी ने भ्रष्टाचार के खिलाफ व चुनाव–सुधारों के पक्ष में जन–आन्दोलन छेड़ दिया और 6 मार्च 1975 को संसद के दोनों सदनों के पीठासीन अधिकारियों के समक्ष जनता का घोषणा–पत्र पेष कर दिया।

जनवरी 1990 में विष्वनाथ प्रताप सिंह के समय में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने तत्कालीन विधि मंत्री दिनेष गोस्वामी के नेतृत्व में चुनाव–सुधारेां पर एक और समिति गठित की। इस समिति द्वारा सुझाए गये प्रस्तावों के आधार पर सरकार ने

उसकी सिफारिषों को कार्यरूप देने के लिए संसद में चार विधेयक प्रस्तुत किए। परन्तु इन पर कानून बनने से पहले ही यह सरकार गिर गयी।

नरसिम्हा राव सरकार ने दो विधेयकों – 83 वॉ संविधान संषोधन विधेयक, 1994 तथा दूसरा जन–प्रतिनिधित्व संषोधन 1994 को पारित कराने के लिए संसद का एक विषेष सत्र बुलाया। परन्तु ये विधयेक प्रस्तुत होने से पहले ही वापिस ले लिए गयें। संयुक्त मोर्चा गठबंधन सरकार को जुलाई 1996 में द्वितीय जन–प्रतिनिधित्व संषोधन अधिनियम को कानून बनाने में सफलता मिल गयीं।

चुनाव लोकतंत्र की रीढ़ है। लोकतन्त्र, लोगों का लोगों द्वारा लोगो के लिए तभी हो सकता है जब प्रतिनिधि सही मायने में जनता की इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधत्व करते हों। भारत में अब तक 16 आम चुनाव हो चुके है। चुनाव सुधार का विषय पिछले कुछ वर्षों से संसद और देष के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित करता रहा है। इस सम्बन्ध मे अनेक समितियों जैसे– तारकुंडे समिति, दिनेष गोस्वामी सिमति, के. संथानम समिति, टी. एन. शेषन, इन्द्रजीत गुप्त समिति, लोक प्रतिनिधित्व (संषोधन) अधिनियम विधि आयोग, आदि की सिफारिषें महत्वपूर्ण है।

हाल में वर्षों के दौरान चुनाव प्रकियाओं में धन, लठैत और माफिया शक्ति के प्रभाव के बारे में व्यापक चिंता व्यक्त की गयी है। चुनाव में बाहुबल और हिंसा का प्रयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा और फर्जी मतदान, यह चुनावों की गंभीर समस्या है। इसका मूल कारण यह है कि तथाकथित जनप्रतिनिधि, प्रषासन और गुण्डा तत्व के बीच गठबन्धन की स्थिति बन गयी है। 'सेवाओं पर प्रषासन का राजनीतिकरण' इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। इसे दूर करने के लिए समस्त व्यवस्था में परिवर्तन जरूरी है।

पिछले कुछ समय से चुनाव आयेाग की सख्ती एवं जनजागरण के प्रयासों से चुनावों में बाहुबल का दखल तो कम हुआ है। लेकिन धनबल का प्रयोग आज भी चिंता का बिषय बना हुआ है। चुनावी प्रक्रिया में आम लोगों की भागीदारी बढ़ाने एवं राजनीति में आम लोग भी हाथ आजमा सकें, इसके लिए नीतिगत उपायों की आवष्यकता है।

4.4.6.1. चुनाव प्रचार – देष में शांति पूर्वक और निष्पक्ष चुनाव कराने की जिम्मेदारी चुनाव आयोग की है। इसलिए देष में चुनाव के लिए चुनाव आचार संहिता भी बनाई गयी है। चुनाव की तारीख एक बार घोषित हो जाने के बाद आचार संहिता तुंरत प्रभावी हो जाती है।

- किसी भी पार्टी को चुनाव प्रचार के लिए सरकारी संसाधनों का उपयोग करने की अनुमति नहीं होती है। आचार संहिता के नियमों के अनुसार चुनाव प्रचार बंद कर दिया जाना चाहिए।
- धार्मिक स्थानों का उपयोग चुनाव प्रचार के मंच के रूप में नहीं किया जाना चाहिए।
- राजनीतिक सभा का आयोजन करने से पहले स्थान व समय की सूचना पुलिस अधिकारियें को दी जाए।
- राजनीतिक दल पहले ही सुनिष्चित कर लें कि जो स्थान उन्होंने चुना है, वहॉ निषेधाज्ञा तो लागू नहीं हैं।

- राजनीतिक दलों का एक ही दिन, एक ही रास्ते से जुलूस निकालने का प्रस्ताव हो तो समय को लेकर पहले बात कर लें।
- जूलूस का इंतजाम ऐसा हो जिससे यायातायात प्रभावित न हो।
- जुलूस सड़क के दायीं ओर निकाला जाए।
- मतदान के दिन और इसके 24 घंटे पहले किसी को शराब वितरित न की जाए।
- मतदान के दिन वाहन चलाने पर उसका परमिट प्राप्त करें।

सत्ताधारी दल के लिए नियम–

- मंत्री शासकीय दौरों के दौरान चुनाव प्रचार के कार्य न करें।
- चुनाव प्रचार में शासकीय मषीनरी तथा कर्मचारियों का इस्तेमाल न करें।
- विश्रामगृह, डाक–बंगले या सरकारी आवासों का प्रयोग प्रचार कार्यालय के लिए नहीं होगा।
- सरकारी धन पर विज्ञापनों के जरिये उपलब्धियॉ नहीं गिनवाएंगे।
- कैबिनेट की बैठक नहीं करेंगे।
- स्थानान्तरण तथा पदस्थापना के प्रकरण पर आयोग की पूर्व अनुमोदन आवष्यक होगी।

4.4.6.1. चुनाव–प्रणाली में बदलाव

वर्तमान चुनाव–प्रणाली में डाले गये वोटों और जीती गयी सीटों के बीच काफी बड़ा अंतर होता है, जहॉ कि किसी भी लोकसभा चुनाव में किसी भी एक दल ने कभी भी मतदान–बहुमत प्राप्त नहीं किया, परन्तु फिर भी वे पूर्ण और यहॉ तक कि अनेक बार दो तिहाई बहुमत हासिल करने में भी कायम रहे। इस प्रणाली की कड़ी आलोचना होती रही है। इस प्रणाली को आनुपातिक–प्रतिनिधित्व प्रणाली में बदलने के विचार व्यक्त किये गये हैं। लालकृष्ण आडवानी और सी. पी भाम्भरी ने 1970 में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की वकालत की। 1975 में तारकुंण्डे समिति ने जर्मन पद्धति के रूपान्तर की सिफारिष की। तारकुण्डे समिति ने वर्तमान भारतीय पद्धति को एक जर्मन तालिका–प्रणाली से जोड़ने का भी सुझाव रखा था। पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त एल.पी. सिंह और ष्यामलाल शकधर ने मतदान की एक ऐसी संयुक्त प्रणाली हेतु तर्क प्रस्तुत किया जिसमें लोकसभा व राज्य विधान सभाओं में 50 प्रतिषत सीटें तो प्रत्यक्ष मतदान द्वारा भरी जाऍगी और शेष आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर।

4.4.7. सारांष

मतदान और चुनाव प्रक्रिया का स्वतंत्र व निष्पक्ष न होना लोकतंत्र को कमजोर बना सकता है। इसी कारण, हमारे संविधान निर्माताओं ने निष्पक्ष चुनाव–तंत्र की व्यवस्था दी है। भारत में चुनाव को एक अनुष्ठान के तौर पर देखा और समझा जाता है। इस प्रक्रिया में लाखों मतदाता कर्मचारीगण, सुरक्षाकर्मी, आदि शामिल होते हैं। चुनाव मनोरंजन और उत्तेजना से भरपूर त्यौहारों की भॉति है।

हमारे देष में चुनाव एक जटिल राजनीतिक प्रक्रिया है। यहॉ जाति, सम्प्रदाय, भाषा, धर्म क्षेत्र आदि चुनावी व्यवहार के मुख्य निर्धारक तत्व है। अतः जाति चुनाव में सबसे महत्वपूर्ण भमिका निभतीा है। चुनाव प्रक्रिया के बाद भी जाति को मंत्रिमण्डल के गठन में यथेष्ठ सम्मान दिया जाता हे। इस प्रकार भारतीय चुनाव इसमें जाति की भूमिका को भली–भॉति समझे बिना नहीं समझा जा सकता है। भारतीय चुनाव में पहले अपराधी लोग बाहर से समर्थन किया करते थे, परन्तु अब वे खुद ही चुनाव में उतर चुके हैं। वे न केवल सदन के सदस्य हैं बल्कि मंत्री तक बन गये हैं। इस ह्रास को रोकने के लिए, कानून अकेले नहीं रोक सकता। सर्तक जनमत की भी आवष्यकता होती हैं। लोगों को जागरूक मतदाता बनना होगा, उन्हें चुनाव –प्रक्रिया की रूग्णता के विषय में प्रभावषील बनाना होगा। तब ही भारत में मजबूत लोकतंत्र का निर्माण किया जा सकता है।

4.4.8. सन्दर्भ

1. राजनीति विज्ञान, एन.डी. अरोड़ा 2011
2. इण्डियन इलेक्षन लॉज, इषांत सिंह, 2014
3. भारतीय संविधान, सुभाष कष्यप
4. भारत का संविधान–एक परिचय, डी. डी. बसु
5. www.rachanakar.org
6. हाऊ इण्डिया वोट्स (How India Voters), बी. एस. रामादेवी एण्ड एस. के. मेंदिरत्ता
7. www. Prabhasakshi.com

4.4.9. अभ्यास प्रष्न

1. भारतीय चुनाव –व्यवस्था एवं प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. भारतीय लोकतंत्र में चुनाव की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
3. चुनाव और मतदान व्यवहार के निर्धारक तत्व के रूप में जाति की भूमिका पर आलोचनात्मक चर्चा करें।
4. भारत में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव (मतदान) कराने में भारतीय चुनाव आयोग की भूमिका को समझााइये।
5. भारत में चुनाव सुधारों के लिए किए गये प्रयासों पर चर्चा कीजिए।